एक साहित्यिककी डायरी

गजानन माधव मुक्तिबोध



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला ग्रन्थांक – १९७
सम्पादक एवं नियामक :
लक्ष्मीचन्द्र जैन

EK SAHITYIK KEE DIARY
(Belles-lettres)
GAJANAN MADHAV
MUKTIBODH

Bharatiya Jnanpith
Publication
First Edition 1964
Price Rs. 2.50

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
प्रधान कार्यालय
९ अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता २७
प्रकाशन कार्यालय
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी-५
विक्रय केन्द्र
३६२०/२१ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६
प्रथम संस्करण १९६४
मूल्य ढाई रुपये

सन्मति मुद्रणालय वाराणसी-५

क्रम

तीसरा क्षण

आजसे कोई बीस साल पहलेकी बात है। मेरा एक मित्र केशव और मैं दोनों जंगल-जंगल घूमने जाया करते। पहाड़-पहाड़ चढ़ा करते। नदी-नदी पार किया करते। केशव मेरे-जैसा ही पन्द्रह बरसका बालक था। किन्तु वह मुझे बहुत ही रहस्यपूर्ण मालूम होता। उसका रहस्य बड़ा ही अजीब था। उस रहस्यसे मैं भीतर-ही-भीतर बहुत आतंकित रहता।

केशवने ही बहुत-बहुत पहले मुझे बताया कि इड़ा पिंगला और सुषुम्ना किसे कहते हैं। कुण्डलिनी-चक्रसे मुझे बड़ा डर लगता। उसने हठयोगियोंकी बहुत-सी बातें बड़े ही विस्तारके साथ बयान कीं।

केशवका सिर पीछेसे बहुत बड़ा था। आगेकी ओर लम्बा और विस्तृत था। माथा साधारण और घनी-घनी भौंहोंके बीच काली आँखें बहुत गहरी मानो दो कुएँ पुतलीके काँचसे भरे हुए हों। यह भी लगता कि उसकी आँखें तलघर हैं। यह भी महसूस होता कि उसकी आँखोंके नीचे कोई दूसरी आँखें और जमी हुई हैं। आँखोंके बीच नाककी शुरुआत पर घनी-घनी भौंहोंकी दोनों पट्टियाँ नीचे झुककर मिल जाती थीं। कभी कभी नाई-द्वारा वह इस मिलन-स्थलपर भौंहोंके बाल कटवा देता। लेकिन उनके रोएँ फिर उग आते। आँखोंके नीचे फीका-पीला लम्बा तिपिस और उकताया हुआ पक्का चेहरा था।

केशव मझोले कदका बालक था जिसे खेल-कूदसे कोई मोह नहीं था। उसका गणित विषय अच्छा था। इसीलिए केशव मेरे लिए मिडिल और मैट्रिकमें जल्दी ही उठा था।

फिर भी मैं केशवके प्रति विशेष उत्साहित नहीं था। मुझे प्रतीत हुआ कि वह मेरे प्रति अधिक स्नेह रखता है। वह मेरे पिताजीके घनिष्ठ मित्रका लड़का था इसलिए उसके यहाँ मेरा काफ़ी आना-जाना था।

केवल एक ही बात उसमें और मुझमें समान थी। वह बड़ा ही घुमक्कड़ था। मैं भी घूमनेका शौक़ीन था। हम दोनों सुबह-शाम और छुट्टीके दिनोंमें तो दिन-भर दूर-दूर घूमने जाया करते।

इसके बावजूद उसका लम्बा चेहरा फीका और पीला रहता। किन्तु वह मुझसे अधिक स्वस्थ था उसका डील ज़्यादा मज़बूत था। वह निस्सन्देह हट्टा-कट्टा था। फिर भी उसके चेहरेकी त्वचा काफ़ी पीली रहती। पीले लम्बे चेहरेपर घनी भौंहोंके नीचे गहरी-गहरी काली चमकदार कुएँ-नुमा आँखें और सिरपर मोटे बाल और गोल आकर्षक मज़बूत ठुड्डी मुझे बहुत ही रहस्य-भरी मालूम होती। केशवमें बाल-सुलभ चंचलता न थी। वह एक स्थिर-प्रशान्त पाषाण-मूर्तिकी भाँति मेरे साथ रहता।

मुझे लगता कि भूमिके गर्भमें कोई प्राचीन सरोवर है। उसके किनारेपर डरावने घाट आतंककारी देव-मूर्तियाँ और रहस्यपूर्ण गर्भ-कक्षोंवाले पुराने मन्दिर हैं। इतिहासने इन सबको दबा दिया। मिट्टीकी तहपर तह पत्थरोंपर परतें चट्टानोंपर चट्टानें जम गयीं। सारा दृश्य भूमिमें गड़ गया अदृश्य हो गया। और उसके स्थानपर यूकैलिप्टसके नये विलायती पेड़ लगा दिये गये। बंगले बना दिये गये। चमकदार कपड़े पहने हुए खूबसूरत लड़कियाँ घूमने लगीं। और उन्हीं-किन्हीं बंगलोंमें रहने लगा मेरा मित्र केशव जिसने शायद पिछले जन्ममें या उसके भी पूर्वके जन्ममें उसी भूमि-गर्भस्थ सरोवरका जल पिया होगा वहाँ विचरण किया होगा।

मनुष्यका व्यक्तित्व एक गहरा रहस्य है — इसका प्रथम भान मुझे केशव द्वारा मिला — इसलिए नहीं कि केशव मेरे सामने खुला मुक्त-हृदय नहीं था। उसके जीवनमें कोई ऐसी बात नहीं थी जो छिपायी जाने योग्य

ही । इसके अलावा वह बालक सचमुच बहुत दयालु, धीर-गम्भीर, सौम्य कष्टोंको सहज ही सह लेनेवाला अत्यन्त क्षमाशील था । किन्तु साथ ही वह विक्षिप्त स्थिर, अचंचल यत्नवान् और सहज-स्नेही था । उसमें सबसे बड़ा दोष यह था कि उसमें बालकोचित हास-कुसुम गुण-दोष नहीं थे । मुझे हमेशा लगा कि उसका विकास मूढताका लक्षण है ।

जब हम हाई-स्कूलमें थे केवल मुझ निर्जन अरण्य-प्रदेशोंमें ले जाता । हम भर्तृहरिकी गुहा मछिन्दरनाथकी समाधि आदि निर्जन किन्तु पवित्र स्थानोंमें जाते । मंगलनाथके पास शिप्रा नदी बहुत गहरी प्रचण्ड गम्भीर और श्याम-नील थी । उसके किनारे-किनारे हम नये-नये भौगोलिक प्रदेशोंका अनुसन्धान करते । शिप्राके किनारोंपर गेरुए और भैरव छायें बितायीं । सुबहें और दुपहर अपने रक्तमें समेट लीं । सारा वन्य प्रदेश ध्यानमें भर लिया । सारी पृथ्वी बाहोंमें छिपा ली ।

मैंने ध्यानको कभी भी योगाभ्यास करते हुए नहीं देखा न उसने कभी सचमुच ऐसी साधना की । फिर भी वह मुझसे योगकी बातें करता । सुषुम्ना नाड़ीके केन्द्रीय महत्त्वकी बात उसने मुझे समझायी । षट्चक्रकी व्यवस्थापर भी उसने पूर्ण प्रकाश डाला । मेरे मनके अँधेरेको उसके प्रकाशने विच्छिन्न नहीं किया । किन्तु मुझ उसके योगकी बातें रहस्यके मर्मभेदी उजाले अँधेरेकी भाँति आकर्षित करती रहतीं मानो मैं किन्हीं गुहाओंके अँधेरेमें चला जा रहा हूँ और वहींसे (किसी स्त्रीकी) कोई मर्मभेदी पुकार मुझे सुनायी दे रही है !!

मैंने अपने मनका यह चित्र उसे कह सुनाया । वह मेरी तरफ अब पहलेसे भी अधिक आकर्षित हुआ । बहुत सहानुभूतिसे मेरी तरफ ध्यान देता । धीरे-धीरे मैं उसके अत्यन्त निकट आ गया । उसकी सलाहके बिना काम करना अब मेरे लिए असम्भव हो गया था ।

साधारण रूपसे मेरे मनमें उठनेवाली भाव-तरंगें मैं उसे कह सुनाता – चाहे वे भावनाएँ अच्छी हों चाहे बुरी चाहे व गुप्त करन

लायक हों चाहे ढाँकने लायक। हम दोनोंके बीच एक ऐसा विश्वास हो गया था कि तथ्यका अनादर करना छुपाना उससे परहेज करके दिमागी तलघरमें डाल देना न केवल गलत है, वरन् उससे कई मानसिक उलझनें उत्पन्न होती हैं।

एक बात कह दूँ। अपने समाज या भाव कहते समय मैं बहुत उच्छ्वसित हो उठता। मुझे लगता कि मन एक रहस्यमय लोक है। उसमें अँधेरा है। अँधेरेमें सीढ़ियाँ हैं। सीढ़ियाँ गीली हैं। सबसे निचली सीढ़ी पानीमें डूबी हुई है। वहाँ अथाह काला जल है। उस अथाह जल से स्वयंको ही डर लगता है। इस अथाह काले जलमें कोई बैठा है। वह शायद मैं ही हूँ। अथाह और एकदम स्याह-अँधेरे पानीकी सतहपर चाँदनीका एक चमकदार पट्टा फैला हुआ है, जिससे मेरी ही आँखें चमक रही हैं मानों दो नीले मूँगिया पत्थर भीतरसे उद्दीप्त हो उठे हों।

मेरे मनके तहखानेमें घटी हुई ध्वनियाँ उसे आकर्षित करतीं। धीरे धीरे वह मुझमें ज्यादा दिलचस्पी लेने लगा। मैं जब उसे अपने मनकी बातें कह सुनाता तो वह क्षण-भर अपनी घनी भौंहोंवाली प्रशान्त-स्थिर आँखोंसे मेरी तरफ देखता रहता। साधारण बातें जो कि हमारे समाज की विशेषताएँ थीं हमारी चर्चाका विषय बनतीं। यद्यपि उसकी ज्ञान सम्पत्ति अल्प ही थी हमारी चर्चाएँ विविध विषयोंपर होतीं। मुझे अलौकिक याद है कि उसने मुझे पहली बार कहा था कि गान्धीवादने भावुक कर्मकी प्रवृत्तिपर कुछ इस ढंगसे जोर दिया है कि सप्रश्न बौद्धिक प्रवृत्ति दबा दी गयी है। असलमें यह गान्धीवादी प्रवृत्ति प्रश्न विश्लेषण और निष्कर्षकी बौद्धिक क्रियाओंका अनादर करती है। यह बात उसने मुझ तब कही थी जब सन् तीस-इकतीसका सत्याग्रह खत्म हो चुका था और विचार सभाओंमें घुसनेकी प्रवृत्ति जोर पकड़ रही थी। तब हम स्थानीय इन्टरमीजिएट कालेजके फर्स्ट ईयरमें पढ़ते थे। तभी हमने उसके पच वर्षीय आयोजनका नाम सुना था।

इसके बाद हम किसी कॉलेजमें पहुँचे – किसी दूसरे शहरमें। मुझे नहीं मालूम था कि केशवने भी वहीं कॉलेज जॉएन किया है। मैंने उसके बारेमें जानकारी लेनेकी कोई कोशिश भी नहीं की थी। सच तो यह है कि मेरा उसके प्रति कोई विशेष स्नेह नहीं था न कोई आकर्षण। ऐसे पाषाणवत् प्रशान्त गम्भीर व्यक्ति मुझे पसन्द नहीं। हाँ उसके प्रति म मनमें सम्मान और प्रशंसाके भाव थे। और, चूँकि वह मुझे बहुत चाहता था इसलिए मुझे भी उसे चाहना पड़ता था। शायद उसे मेरी यह स्थिति मालूम थी। लेकिन कभी उसने अपने मनका भाव नहीं दरशाया इ सम्बन्धमें।

और, एक बार, जब हम दोनों फोर्थ ईयरमें पढ़ रहे थे वह मुझे कैण्टीनमें चाय पिलाने ले गया। केवल मैं ही बात करता जा रहा था आखिर, वह बात भी क्या करता – उसे बात करना आता ही कहाँ था मुझे फिलासफीमें सबसे ऊँचे नम्बर मिले थे। मैंने प्रश्नोंके उत्तर कैसे-कै दिये इसका मैं रस-विभोर होकर वर्णन करता जा रहा था। चा पीकर हम दोनों आधी मील दूर एक तालाबके किनारे जा बैठे। वह कैं ही चुप था। मैंने साइकोएनालिसिसकी बात छेड़ दी थी। जब म धारा-प्रवाह बातमें वह कुछ उकताने लगता तब वह पत्थर उठाक तालाबमें फेंक मारता। पानीकी सतहपर लहरें बनतीं और डुप्प डुप्प की आवाज।

साँझ पानीके भीतर भटक गयी थी। सन्ध्या तालाबमें प्रवेश कर रही थी। लाल-भड़क आकाशीय वस्त्र पानीमें झूल रहे थे। और सन्ध्याके इस रंगीन यौवनसे उन्मत्त हो उठा था।

हम दोनों उठ चले और दूर एक पीपलके वृक्षके नीचे खड़े हो रहे एकाएक मैं अपनेमें चौंक उठा। पता नहीं क्यों, मैं स्वयं एक अजी भावसे आलोकित हो उठा। उस पीपल-वृक्षके नीचे अँधेरेमें मैंने उस एक अजीब और विलक्षण आवेशमें कहा 'श्याम रंगीन श्याम मेरे मीत

लायक हों चाहे ठोकने लायक। हम दोनोंके बीच एक ऐसा विश्वास हो गया था कि तथ्यका अनादर करना, छुपाना, उससे परहेज करके दिमागी खलबलमें डाल देना न केवल गलत है, वरन् उससे कई मानसिक उलझनें उत्पन्न होती हैं।

एक बात कहूँ। अपने खयाल या भाव कहते समय मैं बहुत उच्छ्वसित हो उठता। मुझे लगता कि मन एक रहस्यमय लोक है। उसमें अँधेरा है। अँधेरेमें सीढ़ियाँ हैं। सीढ़ियाँ गीली हैं। सबसे निचली सीढ़ी पानीमें डूबी हुई है। वहाँ अथाह काला जल है। उस अथाह जल-से स्वयंको ही डर लगता है। इस अथाह काले जलमें कोई बैठा है। वह शायद मैं ही हूँ। अथाह और एकदम स्याह-अँधेरे पानीकी सतहपर चाँदनीका एक चमचमाता पट्टा फैला हुआ है जिसमें मेरी ही आँखें चमक रही हैं मानों दो नीले मूँगिया पत्थर भीतरसे उद्दीप्त हो उठे हों।

मेरे मनके तहखानेमें उठी हुई ध्वनियाँ उसे आकर्षित करतीं। धीरे-धीरे वह मुझमें ज्यादा दिलचस्पी लेने लगा। मैं जब उसे अपने मनकी बातें कह सुनाता तो वह क्षण-भर अपनी घनी भौंहोंवाली प्रशान्त-स्थिर आँखोंसे मेरी तरफ़ देखता रहता। साधारण बातें जो कि हमारे समाज की विशेषताएँ थीं हमारी चर्चाका विषय बनतीं। यद्यपि उसकी ज्ञान-सम्पत्ति अल्प ही थी हमारी चर्चाएँ विविध विषयोंपर होतीं। मुझे अभीतक याद है कि उसने मुझे पहली बार कहा था कि गान्धीवादने भावुक मनकी प्रवृत्तिपर कुछ इस ढंगसे जोर दिया है कि सम्पन्न बौद्धिक प्रवृत्ति दबा दी गयी है। असलमें यह गान्धीवादी प्रवृत्ति प्रश्न, विश्लेषण और निष्कर्षकी बौद्धिक क्रियाओंका अनादर करती है। यह बात उसने मुझे तब कही थी जब सन् तीस-बत्तीसका सत्याग्रह खत्म हो चुका था और किसान सभाओंमें घुसनेकी प्रवृत्ति जोर पकड़ रही थी। तब हम स्थानीय इण्टरमीडिएट कॉलेजके फ़र्स्ट ईयरमें पढ़ते थे। तभी हमने रूसके पंच वर्षीय आयोजनका नाम सुना था।

इसके बाद हम डिग्री कॉलेजमें पहुँचे — किसी दूसरे शहरमें। मुझे नहीं मालूम था कि केशवने भी वही कॉलेज ज्वाइन किया है। मैंने उसके बारेमें जानकारी लेनेकी कोई कोशिश भी नहीं की थी। सच तो यह है कि मेरा उसके प्रति कोई विशेष स्नेह नहीं था न कोई आकर्षण। ऐसे पाषाणवत् प्रशान्त गम्भीर व्यक्ति मुझे पसन्द नहीं। हाँ उसके प्रति मेरे मनमें सम्मान और प्रशंसाके भाव थे। और, चूँकि वह मुझे बहुत चाहता था इसलिए मुझे भी उसे चाहना पड़ता था। शायद उसे मेरी यह स्थिति मालूम थी। लेकिन कभी उसने अपने मनका भाव नहीं दरसाया इस सम्बन्धमें।

और, एक बार, जब हम दोनों फ्रेश ईयरमें पढ़ रहे थे वह मुझे कैन्टीनमें चाय पिलाने ले गया। रास्ते में ही बात करता आ रहा था। आखिर, वह बात भी क्या करता — उसे बात करना आता ही कहाँ था। मैंने डिमान्सट्रीमें सबसे ऊँचे नम्बर लिये थे। मैंने प्रश्नोंके उत्तर कैसे-कैसे लिये इसका मैं रस-विभोर होकर वर्णन करता जा रहा था। चाय पीकर हम दोनों कॉलेजसे कुछ दूर एक तालाबके किनारे जा बैठे। वह वैसा ही चुप था। मैंने माइक्रोएनर्जिमपर्की बात छेड़ दी थी। जब मेरी धारा-प्रवाह बातोंसे वह कुछ उकताने लगता तब वह पत्थर उठाकर तालाबमें फेंक मारता। पानीकी मनोहर लहरें बनतीं और डुग्ग डुग्गकी आवाज।

शाम पानीके भीतर सटक गयी थी। सन्ध्या तालाबमें प्रवेश कर रही थी। लाल-मटमैले आकाशीय वस्त्र पानीमें भूल रहे थे। और मैं सन्ध्याके इस रंगीन यौवनसे उन्मत्त हो उठा था।

हम दोनों उठे चले और दूर एक पीपलके वृक्षके नीचे खड़े हो रहे। एकाएक मैं अपनेसे चौंक उठा। पता नहीं क्यों मैं स्वयं एक अजीब भावसे आतंकित हो उठा। उस पीपल-वृक्षके नीचे अँधेरेमें मैंने उससे एक अजीब और विलक्षण आवेशमें कहा 'शाम रंगीन शाम मेरे भीतर

समा गयी है, बस गयी है। यह एक जादुई रंगीन शक्ति है। मुझे उस सुकुमार ज्वाला-ग्राही जादुई शक्तिसे — मानो मुझसे मुझे डर लगता है। और सचमुच तब मुझे एक कँपकँपी आ गयी !!

इतनेमें शाम साँवली हो गयी। वृक्ष अँधेरेके स्तूप-व्यक्तित्व बन गये। पक्षी चुप हो उठे। एकाएक सब ओर स्तब्धता छा गयी। और फिर इस स्तब्धताके भीतरसे एक लम्बाई पीली सुदूर ऊँचाईपर चढ़ गयी। कॉलेजके गुम्बदपर और वृक्षोंके ऊँचे शिखरोंपर लटकती हुई चाँदनी सफ़ेद धोती सी चमकने लगी।

एकाएक मेरे कन्धेपर अपना शिथिल ढीला हाथ रख केशवने मुझसे कहा 'याद है, एक बार तुमने सौन्दर्यकी परिभाषा मुझसे पूछी थी ?"

मैंने उसकी बातकी तरफ़ ध्यान न देते हुए मस्ती-भरी आवाज़में कहा 'हाँ।

'अब तुम स्वयं सौन्दर्य अनुभव कर रहे हो।"

मैं नहीं जानता कि मैं क्या अनुभव कर रहा था। मैं केवल यही कह सकता हूँ कि किसी मादक अवर्णनीय आकस्मिक सुख भीतरसे जकड़ लिया था। मैं केवल इतना ही कह सकता हूँ कि उस समय मेरे अन्तःकरणके भीतर एक कोई और व्यक्तित्व बैठा था। मैं उसे महसूस कर रहा था। कई बार उसे महसूस कर चुका था। किन्तु अब तो उसने भीतरसे मुझे बिलकुल ही पकड़ लिया था। 'मैं जो स्वयं था वह अस्वयं हो गया था। अपनेमें 'बृहत्तर विभक्त अस्वयं।

एकाएक उस पाषाण-मूर्ति मित्रकी भीतरी रिक्ततापर मेरा ध्यान हो आया। वह मुझसे कितना दूर है, कितना भिन्न है, कितना अलग है — अवर्णनीय रूपसे भिन्न !!

वह मुझसे पण्डिताऊ भाषामें कह रहा था किसी वस्तु या दृश्य या भावसे मनुष्य जब एकाकार हो जाता है तब सौन्दर्य-बोध होता है। सब्जेक्ट और ऑब्जेक्ट वस्तु और उसका दर्शक इन दो पृथक तत्त्वोंका

मेरे मिटकर जब सब्जेक्ट ऑब्जेक्टसे तादात्म्य प्राप्त कर लेता है तब सौन्दर्य भावना उद्बुद्ध होती है ।।

मैंने उसकी बातकी तरफ कोई ध्यान नहीं दिया । सौन्दर्यकी परिभाषा वे करें जो रसम बघूने हैं जैसे मेरा मित्र केशव । उसकी परिभाषा सही हो तो क्या, गलत हो तो क्या ! इससे क्या होता जाता है !!

दिन गुजरते गये । एक ही गोलक हम दो साथी भिन्न प्रकृतिके भिन्न गुण-धर्मके भिन्न विचारोंके । एक-दूसरेसे उलटा रहनेके बावजूद हम दोनों मिल जाते । चर्चा करने लगते । मेरी जबान कतरनी-जैसी चलती । केशव सौन्दर्यमें मग्न हुए फिर भी भूले हुए, जैसे ताले-सा प्रतीत होता । कोई मकानके अन्दर जाय देख भाल के चोरी-चपाटी कर ले, लेकिन आते-जाते सौन्दर्यमें ताला जकर अटका पाये वह भी खुला हुआ चाबी लगानेकी जरूरत नहीं । ताला भीतरसे टूटा है चाबी लग ही नहीं सकती ।

लेकिन इस तालेमें एक दिन अकस्मात् चाबी भी लग गयी । छुट्टी का दिन । वृक्षोंके समीप धूप मचल रही था । मैं घरमें बैठे-बैठे बोर हो रहा था । मैंने साइकिलपर आते हुए और धूपमें चमकते हुए एक चेहरेको दूरसे देखा ।

इधर मन काफी कविताएँ लिख ली थीं । सोचा लिखकर खुद ही जालमें फँसता जा रहा हूँ । केशवका चेहरा उदास था । चेहरेपर कुछ नयी बात थी जिसको मैं पहचान नहीं पाया । कविताओंसे मुझे इतनी फुरसत नहीं थी कि मैं केशवकी तरफ ध्यान दे सकूँ । मैं तो अपने मदमें ऐंठा था ।

अगर मैं बोलना न शुरू करता तो चुप्पी काली होकर घनी और घनी होकर और भी काली और लम्बी हो जाती । इसलिए मैंने ही बोलना शुरू किया 'कैसे निकले ?'

केवल गर्दन एक ओर गिराकर रह गया। उसके बाल तब माथे-पर आ गये। मुझे क्या यह मालूम करना चाहता है।

उसने आरम्भ किया, "मैंने बहुत-बहुत सोचा कि ईस्थेटिक एक्सपीरिएन्स क्या है। आज मैंने इसी सम्बन्धमें कुछ लिखा है तुम्हें सुनाने आया हूँ।"

भीतर दिलमें मेरी नानी मर गयी। मैं खुद कविताएँ सुनानेकी ख्वाहिश रखता था। अब वह 'लेक्चर' अपनी सुनाने बैठेगा। मेरी सारी दुपहर खराब हो जायेगी। छी!

मैंने प्रस्ताव रखा, 'अपन उस विषयपर बात ही क्यों न कर लें।'

'जरूर, लेकिन तुम्हें सिलसिलेसे बात करनी होगी।' यह कहकर वह मुसकुरा दिया।

यह मुसकुराहट मुझे चुभ गयी। तो क्या मैं इतना पागल हूँ कि बात करनेमें भटक जाता हूँ! इस आदमीने बहुत ध्यानपूर्वक मेरे स्वभावका अध्ययन किया होगा। शायद मैं ही इसे बहुत 'बोर' करता रहा हूँगा। अपने स्वभावके अध्ययनके इतने अधिक और इतने प्रवीण अवसर किसीको देना शायद उचित नहीं था। मैं तो उल्टा-सीधा बोलता जाता हूँ और ये हजरत अपने दिमागकी नोटबुकमें मेरी हर गलती टीप लेते हैं!

मैंने विश्वास दिलानेकी जबरदस्त चेष्टा और कुचेष्टा करते हुए कहा 'बात बिलकुल ढंगसे ही होगी।"

उसने कहा, 'मैंने तुम्हें बताया था कि 'निज' और 'पर', 'स्व-पक्ष' और 'वस्तु-पक्ष' दोनों जब एक हो जाते हैं तब तादात्म्य उत्पन्न होता है!

उसके भावोंकी गम्भीरता कुछ ऐसी थी, चेहरा उसने इतना सीरियस बना रखा था कि मुझे अपनी हँसी दाब लेनी पड़ी। पहली बात तो यह है कि मुझे उसकी शब्दावली अच्छी नहीं लगी। यह तो मैं जानता हूँ कि सारे दर्शनका मूल आधार सब्जेक्ट-ऑब्जेक्ट रिलेशनशिपकी कल्पना है— स्व-पक्ष और वस्तु-पक्षकी परिकल्पनाएँ और उन दो पक्षोंके परस्पर

सम्बन्धकी कल्पनाके आधारपर ही सवाल खड़ा होता है। अथवा यूँ कहिए कि ज्ञान-मीमांसा खड़ी होती है। एपिस्टेमोलॉजी अर्थात् ज्ञान-मीमांसाकी बुनियादपर ही परिकल्पनाओंके प्रासादकी रचना की गयी है। इस दृष्टिसे देखा जाये तो मुझे वाक्यपर हँसनेकी जरूरत नहीं थी। मैं उसकी स्थापनाको विवाद्य मान सकता हूँ हास्यास्पद नहीं।

फिर भी मैं हँस पड़ा — इसलिए कि मुझे उसके वाक्योंमें उसके स्वयंके विचित्र व्यक्तित्वकी झलक दिखलायी दी। वही वाक्निष्ठ गतिहीन ठण्डा पाषाणवत् व्यक्तित्व !!

उसकी भौंहें कुछ आकुंचित हुईं। फीका पीला चेहरा किंचित् विस्मयसे मेरी ओर नहीं उठी, दृष्टि सामने लगी — मानों वह मेरे स्वरका अध्ययन करना चाहता हो।

मैंने कहा 'भाई, मुझे तादात्म्य और तदाकारिताकी बात समझमें नहीं आती। सच तो यह है कि मैं किसी वस्तुमें तदाकार नहीं हो पाता। तदाकारिताकी बातका मैं खण्डन नहीं करता किन्तु मैं उसको एक मान्यताके रूपमें ग्रहण नहीं करना चाहता।'

उसने कहा 'क्यों ?'

मैंने जवाब दिया "एक तो मैं वस्तु-सत्यका ठीक-ठीक अर्थ नहीं समझता। हिन्दीमें मनसे बाहर वस्तुको ही वस्तु समझा जाता है — ऐसा मेरा ख्याल है। मैं कहता हूँ कि मनका तत्त्व भी वस्तु हो सकता है। और अगर यह मान लिया जाय कि मनका तत्त्व भी एक वस्तु है तो ऐसे तत्त्वके साथ तदाकारिता या तादात्म्यका कोई सवाल नहीं होता क्योंकि वह तत्त्व मन ही का एक भाग है। हाँ, मैं इस मनके तत्त्वके साथ तटस्थताकी ऐसी कल्पना कर सकता हूँ, तदाकारिताकी नहीं।

मेरे स्वर और शब्दकी कुछ-कुछ तीखी गतिने उसे विश्वास दिला दिया कि मैं उसकी बात उड़ानेके लिए बात नहीं कर रहा हूँ वरन् उसकी बात समझनेमें महसूस होनेवाली कठिनाईका बयान कर रहा हूँ।

आखिरकार वह मेरा मित्र था, बुद्धिमान् और कुशाग्र था। उसने मेरी ओर देखकर किंचित् स्मित किया और कहने लगा, 'तुम एक लेखककी हैसियतसे बोल रहे हो इसलिए ऐसा कहते हो। किन्तु सभी लोग लेखक नहीं हैं। दर्शक हैं, पाठक हैं, श्रोता हैं। वे हैं इसलिए तुम भी हो — यह नहीं कि तुम हो इसलिए वे हैं।' वे तुम्हारे लिए नहीं हैं, तुम उनके सम्बन्धसे हो। पाठक या श्रोता तादात्म्य या तन्मयतासे बात शुरू करें तो तुम्हें आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

मेरे मुँहसे निकला, 'तो?'

उसने जारी रखा, 'तो यह कि लेखककी हैसियतसे सृजन प्रक्रियाके विश्लेषणके रास्तेसे होते हुए सौन्दर्य-मीमांसा करोगे या पाठक अथवा दर्शककी हैसियतसे कलानुभवके मार्गसे गुजरते हुए सौन्दर्यकी व्याख्या करोगे? इस सवालका जवाब दो।'

मैं उसकी चपेटमें आ गया। मैं कह सकता था कि दोनों करूँगा। लेकिन मैंने ईमानदारी बरतना ही उचित समझा। मैंने कहा, 'मैं तो लेखककी हैसियतसे ही सौन्दर्यकी व्याख्या करना चाहूँगा। इसलिए नहीं कि मैं लेखकको कोई बहुत ऊँचा स्थान देना चाहता हूँ वरन् इसलिए कि मैं यहाँ अपने अनुभवकी चट्टानपर खड़ा हुआ हूँ।'

उसने भौंहोंको सिकोड़कर और फिर ढीला करते हुए जवाब दिया, 'बहुत ठीक, लेकिन जो लोग लेखक नहीं हैं वे भी तो अपने ही अनुभवके दृढ़ आधारपर खड़े रहेंगे और उसी बुनियादपर बात करेंगे। इसलिए उनके बारेमें नाक-भौं सिकोड़नेकी जरूरत नहीं, उन्हें नीचा देखना तो और भी गलत है।'

उसने कहना जारी रखा, 'इस बातपर बहुत कुछ निर्भर करता है कि आप किस सिरेसे बात शुरू करेंगे। यदि पाठक, श्रोता या दर्शकके सिरेसे बात शुरू करेंगे तो आपकी विचार-यात्रा दूसरे ढंगकी होगी। यदि लेखकके सिरेसे सोचना शुरू करेंगे तो बात अलग प्रकारकी होगी।'

दोनों सिरेसे बात हमारी। सौन्दर्य-मीमांसाकी ही। किन्तु भाषाकी भिन्नताके कारण अलग-अलग रास्तोंका प्रभाव विचारोंको भिन्न बना देगा।

दो भाषाओंकी परस्पर-भिन्नता अनिवार्य रूपसे परस्पर-विरोधी ही है – यह सोचना निराधार है। भिन्नता पूरक भी हो सकती है विरोधी भी।

यदि हम यथा-तथ्य बात भी करें तो भी बल (एम्फ़ैसिस) की भिन्नताके कारण विश्लेषण भी भिन्न हो जायगा।

किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्रश्न किस प्रकार उपस्थित किया जाता है। प्रश्न तो आपकी विचार-यात्रा होगी। यदि इस विचार यात्राको रेगिस्तानमें विचरणका पर्याय नहीं बनाना है तो प्रश्नको सही ढंगसे प्रस्तुत करना होगा। यदि वह गलत ढंगसे उपस्थित किया गया तो अगली सारी यात्रा गलत हो जायगी।

उसने मेरी तरफ़ ध्यानसे देखा। शायद वह यह देखना चाहता था कि मैं उसकी बात गम्भीरतापूर्वक सुन रहा हूँ या नहीं। शायद उसका यह विश्वास था कि मैं अत्यधिक इम्पल्सिव सहज उत्तेजित हो उठनेवाला एक बचन आदमीकी तरह हूँ। किन्तु मैं शान्त था। मेरे मनकी केवल एक ही प्रतिक्रिया थी और वह यह कि क्या यह समझता है कि मैं समस्याको ठीक तरहसे प्रस्तुत करना नहीं जानता। असलमें उसकी यह धारणा मुझे बहुत अप्रिय लगी। मैं उसकी इस धारणाको बहुत पहलेसे जानता था। वह कई बार उसे दुहरा भी चुका था। असलमें वह बौद्धिक दायरेमें अपनेको मुझसे उच्चतर समझता था। उसका ठण्डापन उसके फलस्वरूप हम दोनोंके बीचकी दूरी दूरीका सतत भान और इस भानके बावजूद हम दोनोंका नैकट्य – परस्पर घनिष्ठता और इसके विपरीत दूरीके इस भानके कारण मेरे मनमें उसके विरुद्ध एक डंक मारती हुई गाँठ और चिड़चिड़ापन – इन सब बातोंसे मेरे अन्तःकरणमें बरबस

मेरे सम्बन्धोंकी भावना विषम हो गयी थी। मूल्य बदल गये थे। मैं लेखकको न तो पूर्णतः स्वीकृत कर सकता था न उसे अपनी जिन्दगीसे हटा सकता था। इस प्रकारकी मेरी स्थिति थी। फिर भी चूँकि ऐसी स्थिति बहुत पहलेसे चली आयी थी इसलिए मुझे उसकी आदत पड़ गयी थी। किन्तु इस असम्पन्नताके बावजूद कई बार मेरा विक्षोभ फूट पड़ता और तब लेखककी आँखोंमें एक चालाक रोशनी दिखायी देती और मुझे सन्देह होता कि वह मेरी तरफ देखकर मुसकुराता हुआ कोई गहरी चोट कर रहा है !! उस समय उसके विरुद्ध मेरे हृदयमें घृणाका फोड़ा फूट पड़ता !!

किसी-न-किसी तरह मैंने अपनेको सामंजस्य और मानसिक सन्तुलनकी समाधिमें गाड़ लिया यह बतानेके लिए कि मैं उसकी बातें ध्यानपूर्वक सुन रहा हूँ। मैंने उसके तर्कों और युक्तियोंके प्रवाहमें डूबकर मर जाना ही बेहतर समझा क्योंकि इस रवैयेसे या ढंगसे मेरे आत्म-गौरवकी रक्षा हो सकती थी। इस बीच मेरा मन दूर-दूर भटकने लगा। बाहरसे शायद मैं धीर-प्रशान्त बना रहा था।

मैंने ऐसे बहुत-से व्यक्ति देखे हैं जो हिमाच्छादित पर्वत-शिखरकी भाँति शान्त निःस्तब्ध गम्भीर और भव्य लगते हैं। किन्तु अब मुझे इस बातका गहरा सन्देह होने लगा है कि असलमें ऐसे लोगोंका सिर खाली होता है। उनकी बाहरी शान्ति और गम्भीरता भीतरके खालीपनको ढाँकनेकी चीज है। मुझे ही देखिये न। मैं कैसी समाधि लगाकर उसके शब्द (शब्द नहीं केवल भाव) सुन रहा हूँ।

किन्तु मेरा मन बाहर कहीं उड़ा जा रहा है। जैसे झरोखेसे कभी कभी हवाके झोंके भीतर चले आयें उस प्रकार उसके कुछ वाक्य मेरे भीतर घुस आते हैं। बाहर उसका वाक् प्रवाह जारी है जैसे कोई प्राकृतिक प्रवाह बह रहा हो। मैं केवल कुछ लहरोंको ही चीन्ह पाया हूँ। ऐसा हूँ मैं ! तब क्यों न मैं अपनेसे ही विरक्त हो जाऊँ ?

और मैं जबरदस्तीकी इस ध्यान-समाधिमें लीन होकर खुद ही से क्षुब्ध हो उठता हूँ।

ऐसी क्षुब्ध अवस्थामें मैं सहसा उत्तेजित होकर उससे कहता हूँ 'जरा चाय ले आऊँ दो मिनिटमें आता हूँ। यह कहकर मैं घरके भीतर गायब हो गया और पन्द्रह-बीस मिनिट बाद हाथमें चायकी ट्रे लेकर वापिस आया। तब मुझे सहसा सुनायी दिया विभिन्न व्यक्तित्वोंके लिए सृजन प्रक्रियाएँ भिन्न-भिन्न हैं विभिन्न युगोंमें सृजन प्रक्रियाएँ अलग-अलग होती हैं। विभिन्न साहित्य-प्रकारोंके लिए भी सृजन प्रक्रियाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं।

मैंने चायकी ट्रे टेबलपर रखी और हल्केसे गम्भीरतापूर्वक कहा 'मुझे इस बातपर सोचनेके लिए अवकाश या समय दो। क्या खयाल है? तुम्हारी बात बहुत महत्त्वपूर्ण है इसलिए। उसने अपनी रजामन्दी जाहिर की।

मेरे सिरसे एक वजन उठ गया। मैं छुटकारा पा गया। मैं थोड़ा-सा खुश भी हुआ।

उसने मेरी तरफ देखकर सिर्फ इतना ही कहा 'मैं चाहता हूँ कि साहित्य-सम्बन्धी धारणाएँ वास्तविक साहित्यमें विश्लेषणके आधारपर बनायी जायें। जिस प्रकार विज्ञानमें इण्डक्शनसे डिडक्शनपर आया जाता है — तथ्योंके संग्रहसे उनके विश्लेषण-द्वारा उनके सामान्यीकरणसे अनुमान और निष्कर्ष निकाले जाते हैं — उसी प्रकार साहित्यमें इण्डक्शनसे डिडक्शनपर क्यों न आया जाय? इण्डक्शनका क्षेत्र केवल हिन्दी साहित्य तक ही सीमित क्यों रहे? उपन्यास क्या है, यह पढ़ाते समय हम विश्वके प्रमुख उपन्यासोंके उपरान्त ही यह ठहरायें कि उपन्यास किसे कहते हैं और उसका शिल्प क्या है अथवा उसके प्रधान अंग क्या होते हैं—इसी प्रकार साहित्यमें सौन्दर्य किसे कहते हैं इस प्रश्नके ऊहापोहका क्षेत्र केवल हिन्दीकी आत्मपरक कविता और हिन्दी साहित्य तक सीमित न रक्खें।

यदि हमने क्षेत्र विस्तृत किया तो हम पायेंगे कि सौन्दर्य-सम्बन्धी हमारी परिभाषा असमर्थताके दोषसे अथवा अव्याप्ति और अतिव्याप्तिके दोषोंसे रहित होगी। मुझे गहरा सन्देह है कि आजकलकी सौन्दर्य-परिभाषा (यदि उसे व्याख्या कहें तो) केवल कविता और वह भी आत्मपरक कविता की विशेषताओंके आधारपर बनायी जा रही है। सौन्दर्य-सम्बन्धी इन व्याख्याओंका प्रकट या अप्रकट उद्देश्य आजकी काव्य-दृष्टिका डिफेन्स है। किन्तु ये व्याख्याएँ कुछ इस प्रकारसे कुछ इस ठाठसे और शानसे बनायी जाती हैं मानो वे सार्वभौम सत्यकी सार्वकालिक स्थापनाएँ हों। इस पोज और पॉस्चरकी जरूरत नहीं। यह अवैज्ञानिक दृष्टि है। अगर साहित्यिक सौन्दर्यसम्बन्धी मीमांसा करनी है तो आपको अपनी दृष्टि केवल आत्मपरक कविता — वह भी आजकलकी कविता — तक ही सीमित नहीं करना चाहिए। और यदि ऐसी ही व्याख्या करनी है तो वह पोज और पॉस्चर त्याग देना चाहिए। मुझे इस पोजसे चिढ़ है।

पूरी बातचीतमें मेरा रुख एक श्रोताका था। इच्छा तो यह थी कि मैं पौन पावकी भूमिका अदा न कर उसकी बातोंको हिट करूँ। उसपर प्रत्याक्रमण करूँ। मुझे सन्देह हो रहा था कि वह पण्डिताऊ ढंगसे सौन्दर्य-सम्बन्धी बात करना चाह रहा था। मुझे इस विषयको आगे बढ़ानेकी इच्छा ही नहीं थी। बहरेके सामने क्या बीन बजावें!

मैंने बात बदलनेके लिए कहा — 'और कैसा क्या चला हुआ है?'

उसने कोई जवाब नहीं दिया। वह क्या कहता!

हम उठनेको हुए। उठे और चलने लगे। मैंने कहा — मैं तुम्हें वहाँ तक पहुँचा देता हूँ।

तबतक शाम हो चुकी थी। मेरे घरके सामने सफ़ेद चम्पाके फूल उजागर दीपों-जैसे खिले हुए थे। वातावरणमें चम्पाकी मन्द गन्ध फैल रही थी। शाम अपना साँवला प्यार-भरा आँचल पसार रही थी।

बीच ही में हमारे विस्तृत महालके भीतर एक मन्दिर पड़ता था। उसने कहा आओ थोड़ी देर बैठें।

मेरे भीतर वातावरणकी मस्ती छाने लगी। बदनके रोम पुलकित हो रहे थे। आँखोंमें किरणोंकी सुनहली धारा-सी बहने लगी। बाहुओंकी मांस-पेशियोंमें-से मानो कोई नदी बहकर, दौड़कर हृदयमें दाखिल हो रहा था। मात्र प्राकृतिक-शारीरिक आनन्द मुझपर हावी हो रहा था। एक उन्मत्त स्फूर्ति एक सहज शक्ति-चेतना मेरी आँखोंको निर्मल और दीप्त कर रही थी।

किन्तु मेरा मित्र वैसे ही शिथिल शान्त और पाषाणवत् बैठा था। मैं अपनी शारीरिक शक्तिके आनन्दसे ही चमत्कृत था भीतरसे मन्त्रित और मन्त्र-मुग्ध।

उसने धीरे-धीरे बहुत ठण्डेपन-से कुछ कहना शुरू किया। मुझे लगा कि बदनसे कोई छिलका मेरी त्वचापर फटी जा रही है। इस बीच उसके भाव-प्रवाहमें मैंने कोई परिचित नाम सुना। मन चौंककर पूछा 'क्या ?

"हमने कल तय कर लिया कि इस गरमीमें विवाह कर लेंगे।"

मैंने बहुत विस्मयसे पूछा 'क्या !'—'किससे ?

'केटीसे।

कौन केटी ?"

वह कुछ नहीं बोला। किन्तु धीरे-धीरे मनमें एक इसकी आभा प्रकाशका रूप धारण करती गयी।

मुझे आश्चर्यका इतना बड़ा धक्का कभी नहीं लगा था। केटीसे ऐसा कर भी सकता है! असम्भव! तो उसके बारेमें मेरा सारा निरीक्षण-परीक्षण ग़लत हो गया — एक ही झटकेमें! अच्छा हुआ कि वह ग़लत हो गया!

मेरा सारा चेहरा आश्चर्य और आनन्दकी लहरोंमें बँध गया। मन

मज़ाक़-मज़ाकमें कहा 'तो इसीलिए तादात्म्य और तदाकारिताकी बात कर रहे थे। क्यों हज़रत ?

हसन ठहाकेसे बचाव किया केवल तटस्थ व्यक्ति ही तदाकार हो सकता है, समझे ?" उसने गम्भीरतासे कहा। उसके स्वरमें अतिरिक्त बल था। किन्तु उसके इस वाक्यका मैं अर्थ नहीं समझ सका। असलमें मुझे इतना आनन्द हुआ था कि मैंने केशवको चिपका लिया। उसका चेहरा लाल और छाती गरम हो गया था। कल्पनासे गरम। ऐसी स्थितिमें मैं भला उसके वाक्यका अर्थ कैसे समझ सकता था ?

समय गुज़रता गया। उसे अपनी ज़िन्दगीमें विशेष सफलता नहीं मिली। 'मारो – खाओ हाथ मत आओ !' के इस ज़मानेमें उस-जैसे आदमीकी क्या चलती !

समयने हम दोनोंके चेहरोंपर मुर्दापन और अनास्थाकी कालिख पोत दी थी। दुनियाकी आँखोंसे दूर, अकेलेपनके अँधेरेमें हम दोनों अलग-अलग पृथ्वीके दो छोरोंपर छोड़ से पड़े थे।

इसके बावजूद जब-जब मैंने उससे रुपये मँगवाये उसने तुरन्त भेज दिये। साथ ही यह भी लिखा कि जब कभी ज़रूरत हो मैं उससे अवश्य माँग लिया करूँ। किन्तु बीस वर्ष हुए मैंने उसे न कोई पत्र लिखा न रुपये मँगवाये। न मुझे उसके बारेमें कुछ मालूम हुआ न उसने ही मुझे कुछ लिखा।

"मानो किसी तालाबमें-से भाफ निकलती हो, भाफकी ऊँची उठती हिलकारती लहरें एक मनुष्याकार धारण कर ऊँची ऊँची उठती हुई आपके पास आने लगती हों तो आपको कैसा लगेगा ? मुझे तो डर लगेगा। आपको ?

जब मुझे यह सूचना मिली कि केशव इसी गाड़ीसे यहाँ आ रहा है,

तो मुझे भी वैसा ही लगा। मुझे लगा कि एक भाफ मनुष्याकार धारण कर मेरे पास-पास आती जा रही है। मैं आतंकित हो उठा।

पहले तो मैं इस उलझनमें रहा कि उसका स्वागत करने स्टेशन जाऊँ या घरकी मनहूसियत दूर करनेके उपाय खोजूँ। किन्तु दयालु पत्नीने जब घरका विद्रूप दूर करनेका आश्वासन दिया तब मुझे थोड़ी-सी राहत मिली। अगर केशवको मेरे यहाँ आना ही था तो तारसे पहले सूचना देनी थी जिससे हमें बड़ी सहूलियत हो जाती। संकट-कालमें मेहमान दुश्मन होता है। विशेषकर वह जिसने मुझे पहले बहुत अच्छी सुघर, सम्पन्न और सुव्यवस्थित स्थितिमें देखा हो!

केशव बहुत बदल गया था। तमाम बाल सफ़ेद हो गये थे। चेहरेपर गहरी लकीरें बन गयी थीं। वह पुष्ट हो गया था। इसके बावजूद उसका स्वास्थ्य बहुत अच्छा था। उसका बदन भरा हुआ था। भुजाओंकी मांस-पेशियाँ दृढ़ थीं। लगता था कि पिछले छह-सात सालसे वह दण्ड बैठक मारता आ रहा हो। शायद उसने तैरनेकी अच्छी-खासी आदत डाल ली थी। रूपहीन तो वह कभी नहीं रहा था। किन्तु फिर भी अब उसमें पहलेसे अधिक स्फूर्ति थी। उसकी प्रशान्त-गम्भीरता कम नहीं हुई थी लेकिन बोलता ज्यादा था। उसकी शारीरिक हलचल स्फूर्ति पुष्ट प्रतीत होती। मुझे लगा कि उसने अपनी परिस्थितियोंका ज्यादा मज़बूती और अधिक आत्म-विश्वाससे मुक़ाबला किया है। वह काफ़ी हँसता भी था फ़बतियाँ भी कसता था। मुझे लगा कि उसका अध्ययन भी विस्तृत हो गया है। इधर उसने काफ़ी पढ़ा है। मुझे बराबर यह भान होता रहा कि मैं पिछड़ गया हूँ और वह मुझसे बहुत आगे बढ़ गया है।

जब हम दोनों भोजनको बैठे तो बनियानके भीतर उसके गोरे सुघर कसे [illegible] शरीरको देखकर मैं दंग रह गया — प्रसन्न नहीं हुआ। गोरे

मज़ाक़-मज़ाक़में कहा — 'तो इसीलिए तादात्म्य और तदाकारिताकी बात कर रहे थे! क्यों हज़रत?

उसने तड़ाकसे जवाब दिया — 'केवल तटस्थ व्यक्ति ही तदाकार हो सकता है, समझे?'' उसने गम्भीरतासे कहा। उसके स्वरमें अतिरिक्त बल था। किन्तु उसके इस वाक्यका मैं अर्थ नहीं समझ सका। असलमें मुझे इतना आनन्द हुआ था कि मैंने उसको चिपका लिया। उसका चेहरा लाल और शायद गरम हो गया था। उच्छ्वास गरम। ऐसी स्थितिमें मैं भला उसके वाक्यका अर्थ कैसे समझ सकता था?

समय गुज़रता गया। उसे अपनी ज़िन्दगीमें विशेष सफलता नहीं मिली। 'मारो – खाओ हाथ मत आओ!' के इस ज़मानेमें उस-जैसे आदमीकी क्या चलती!

बचपनने हम दोनोंके चेहरोंपर भूखेपन और अभावोंकी कालिमा पोत दी थी। दुनियाकी आँखोंसे दूर, अकेलेपनके अँधेरेमें हम दोनों अलग अलग पृथ्वीके दो छोरोंपर खोये-से रहे थे।

इसके बावजूद जब-जब मैंने उससे रुपये मँगवाये, उसने तुरन्त भेज दिये। साथ ही यह भी लिखा कि जब कभी ज़रूरत हो मैं उससे अवश्य माँग लिया करूँ। किन्तु पाँच वर्ष हुए, मैंने उसे न कोई पत्र लिखा न रुपये मँगवाये। न मुझे उसके बारेमें कुछ मालूम हुआ, न उसने ही मुझे कुछ लिखा।

""मानो किसी तालाबमें-से भाफ निकलती हो, भाफकी ऊँची उठती झिलमिलाती लहरें एक मनुष्याकार धारण कर, ऊँची-ऊँची होती हुई आपके पास आने लगती हों तो आपको कैसा लगेगा? मुझे तो डर लगेगा। आपको?

जब मुझे यह सूचना मिली कि केशव इसी गाड़ीसे यहाँ आ रहा है,

तो मुझे भी वैसा ही लगा। मुझे लगा कि एक भाफ मनुष्याकार धारण कर मेरे पास-पास आती जा रही है। मैं आतंकित हो उठा।

पहले तो मैं इस उलझनमें रहा कि उसका स्वागत करने स्टेशन जाऊँ या घरकी मनहूसियत दूर करनेके उपाय खोजूँ। किन्तु समासु पत्नीने जब घरका विद्रूप दूर करनेका आश्वासन दिया तब मुझे थोड़ी-सी राहत मिली। अगर केशवको मेरे यहाँ आना ही था तो तारसे पहले सूचना देनी थी जिससे हमें बड़ी सहूलियत हो जाती। संकट-कालमें मेहमान दुश्मन होता है। विशेषकर वह जिसने मुझे पहले बहुत अच्छे सुघर सम्पन्न और सुव्यवस्थित स्थितिमें देखा हो!

केशव बहुत बदल गया था। तमाम बाल सफ़ेद हो गये थे। चेहरेपर गहरी लकीरें बन गयी थीं। वह बुड्ढा हो गया था। इसके बावजूद उसका स्वास्थ्य बहुत अच्छा था। उसका बदन भरा हुआ था। भुजाओंकी मांस-पेशियाँ दृढ़ थीं। लगता था कि पिछले छह-सात सालसे वह दण्ड बैठक मारता आ रहा हो। शायद उसने वैसकी अच्छी-खासी आदत डाल ली थी। संयमहीन तो वह कभी नहीं रहा था। किन्तु फिर भी अब उसमें पहलेसे अधिक स्फूर्ति थी। उसकी प्रशान्त-गम्भीरता कम नहीं हुई थी लेकिन कोमलता ज्यादा था। उसकी शारीरिक हृष्टपुष्ट स्फूर्ति सुघर प्रतीत होती। मुझे लगा कि उसने अपनी परिस्थितियोंका ज्यादा मज़बूती और अधिक आत्म-विश्वाससे मुक़ाबला किया है। वह काफ़ी हँसता भी था, फ़ब्तियाँ भी कसता था। मुझे लगा कि उसका अध्ययन भी विस्तृत हो गया है। इधर उसने काफ़ी पढ़ा है। मुझे बराबर यह भास होता रहा कि मैं पिछड़ गया हूँ और वह मुझसे बहुत आगे बढ़ गया है।

जब हम दोनों भोजनको बैठे तो बनियानके भीतर उसके गोरे सुघर कसे हुए शरीरको देखकर मैं सन्न रह गया — प्रसन्न नहीं हुआ। सारे

शरीरपर एक सूखा सफ़ेद भूरा चेहरा ! किन्तु बहुत ख़ूबसूरत मालूम हुआ। निश्चित रूपसे हाँ चिन्ताकी रेखाएँ उसके चेहरेपर थीं। वे काफ़ी गहरी भी थीं। लेकिन क्या वे चिन्ता की थीं ? या चिन्तन की ? मैं इसका निर्णय नहीं कर सका।

भोजनके दौरान उसने एक बड़ी मज़ेदार बात कही। उसने हाथमें कौर लेकर मेरी तरफ़ देखते हुए कहा, 'तुममें और मुझमें एक बड़ा भेद है। विचार मुझे उत्तेजित करके क्रियावान् कर देते हैं। विचारोंको तुम तुरन्त ही संवेदनाओंमें परिणत कर देते हो। फिर उन्हीं संवेदनाओंके तुम चित्र बनाते हो। विचारोंकी परिणति संवेदनाओंमें और संवेदनाओंकी चित्रोंमें। इस प्रकार तुममें ये दो परिणतियाँ हैं। अगर तुम्हारी कविताएँ किसीको कमज़ोर हुई मालूम हों तो तुम्हें हताश नहीं होना चाहिए—मैं तुम्हारी कविताएँ ध्यानसे पढ़ता हूँ।

मैंने डरते-डरते पूछा, 'मेरी कविताएँ तुम्हें अच्छी लगती हैं ?

'उनमें और सफ़ाईकी ज़रूरत है। किन्तु मैं उन लोगोंका समर्थक नहीं हूँ जो सफ़ाईके नामपर, सफ़ाईके लिए 'कॉन्टेण्ट' (कथ्य-तत्त्व) की बलि दे देते हैं।

फिर एक लम्बे समय तक हम दोनों चुप रहे। दो व्यक्ति-बिन्दुओंके बीचकी दूरी बढ़ती रही। एक क्षण बाद दो बिन्दुओंके बीचों-बीच समान रूपसे दोनों दूरीपर एक मध्य-बिन्दु-अणु बना। उस अणुसे एक हाथकी तरफ़ एक सीधी अणु-रेखा निकली। उसी बिन्दुके दूसरे हाथकी तरफ़ दूसरी सीधी-सरल अणु-रेखा फूट पड़ी। दोनों रेखाएँ आगे बढ़ने लगीं और उसने हम दो व्यक्ति-बिन्दुओंको एक अणु उज्ज्वल प्राण-रेखा-द्वारा जोड़ दिया।

मैंने किसी आकस्मिक उत्साहसे कहा, 'मेरे ख़यालसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कलाके तीन क्षण होते हैं। यदि उनमें ज़रा-सी भी भीतरी कमज़ोरी रही तो — चाहे वह बौद्धिक आत्मक्षमताकी कमज़ोरी हो या संवेदन क्षमताकी हो — कृतिपर उसका तुरन्त प्रभाव होगा।

जो फ़ैण्टेसी अनुभवकी व्यक्तिगत पीड़ासे पृथक् होकर अर्थात् उनसे तटस्थ होकर अनुभवके भीतरकी ही संवेदनाओं-द्वारा उत्तेजित और प्रक्षेपित होगी। वह एक अर्थमें वैयक्तिक होते हुए भी दूसरे अर्थमें नितान्त निर्वैयक्तिक होगी। उस फ़ैण्टेसीमें अब एक भावात्मक उद्देश्यकी संगति आ जायेगी। इस भावात्मक उद्देश्यके द्वारा ही वस्तुतः फ़ैण्टेसीका रूप-रंग निखरेगा। किन्तु यह होते हुए भी वह फ़ैण्टेसी यथार्थमें भोगे गये वास्तविक अनुभवकी प्रतिकृति नहीं हो सकती। वैयक्तिकसे निर्वैयक्तिक होनेके दौरान ही उस फ़ैण्टेसीने कुछ ऐसा नवीन ग्रहण कर लिया कि जिससे वह स्वयं भी वास्तविक अनुभवसे स्वतन्त्र बन बैठी। फ़ैण्टेसी अनुभवकी कन्या है और उस कन्याका अपना स्वतन्त्र विकासमान व्यक्तित्व है। वह अनुभवसे प्रसूत है इसलिए वह उससे स्वतन्त्र है।

कलाका यह दूसरा क्षण है। मैंने कहना जारी रखा, किन्तु इस फ़ैण्टेसीको शब्द-बद्ध करने या चित्रित करनेकी प्रक्रियाके दौरानमें ही वह फ़ैण्टेसी पिघलकर उस प्रक्रियाके प्रवाहमें बहने लगती है। उस आदिम प्रवाहमें फ़ैण्टेसीके सारे रंग घुलकर बहने लगते हैं सारा व्यक्तित्व और उसकी समस्त चेतना उस फ़ैण्टेसीके बहते रंगोंके साथ बहने लगती है और शब्द-बद्ध होनेपर अथवा चित्रित होनेपर जो कृति या रचना तैयार होती है वह कृति या रचना कलाके दूसरे क्षणकी फ़ैण्टेसीकी पुत्री है, प्रतिकृति नहीं। इसीलिए मूल फ़ैण्टेसीसे उसका व्यक्तित्व स्वतन्त्र भिन्न और पृथक् है। कलाका यह तीसरा या अन्तिम क्षण है। इन तीन क्षणोंके बिना कला असम्भव है। इन तीनों क्षणोंकी विकास-शक्तिके अपने-अपने अलग नियम हैं।

मैंने कहना जारी रखा 'यदि तुम्हें इस प्रश्नका उत्तर पाना है कि सौन्दर्य क्या है अथवा सौन्दर्य-प्रतीति क्या है सौन्दर्यानुभव क्या है और वह किस प्रकार वास्तविक अनुभवसे भिन्न है तो तुम्हें कलाके इन तीन प्रधान क्षणोंके मनोविज्ञान ही का अध्ययन करना होगा। उनका अध्ययन

इसीलिए फ़ैण्टेसीमें संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदनाएँ रहती हैं। कृतिकारको लगातार महसूस होता रहता है कि उसका अनुभव सभी के लिए महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान है। तो मतलब यह कि भावतत्त्व और वस्तुतत्त्वका द्वन्द्व एक समन्वयमें लीन होकर एक दूसरेके गुणोंका आदान-प्रदान करता हुआ सृजन प्रक्रिया आगे बढ़ा देता है। उसका ज्ञान और भावनाओंकी संवेदना परस्पर-विलोम होकर अपनेसे परे उठनेकी सीमाको प्रोत्साहित करती रहती है। इस प्रकार सृजन-प्रक्रियाके विविधमें सबसामान्य मानस प्रतिबिम्बित होता-सा प्रतीत होता है। दूसरे शब्दोंमें संवेदना-के निष्कर्षित पहले रंग दृष्टिसे स्थिति-मुक्त स्पष्ट परिष्कृत होकर प्रतिबिम्बित हो उठते हैं। मेरा ऐसा ख़याल है। फ़्लाक दूसरे क्षणमें उपस्थित फ़ैण्टेसीकी इकाईमें संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना कुछ इस प्रकार समायी रहती है कि लेखक उन्हें शब्द-बद्ध करनेके लिए तत्पर हो उठता है।

"——यहींसे कलाके तीसरे क्षणका आरम्भ होता है। अब मज़ा देखिए। मेरी बात ध्यानसे सुनना!

अब यहींसे एक नये संघर्षकी कहानी शुरू होती है। केवल ज्यों ही फ़ैण्टेसी शब्दोंमें व्यक्त करने लगता है, फ़ैण्टेसीके रंग धुँधले जमते हैं और शब्द प्रवाहित होने लगते हैं। व्यक्त करनेके दौरान प्रकट करनेकी प्रक्रियामें फ़ैण्टेसी बदलने लगती है——ऐसा क्यों होता है?

कुछ देर तक चुप्पी रही। वह आगे नहीं बोल सका। उसने प्रश्न उपस्थित कर दिया, जवाब नहीं दे सका। वह मेरी तरफ़ देखने लगा। बातको आगे चलानेके लिए मैंने कहना शुरू किया——

होता यह है कि फ़ैण्टेसीको शब्द-बद्ध करनेकी प्रक्रियामें बहुत-से नये तत्त्व उसमें आ मिलते हैं। ये तत्त्व उसे लगातार संशोधित करते रहते हैं। ध्यान रखिए कि यह फ़ैण्टेसी अनुभव प्रसूत होते हुए भी अनुभव-विस्तृत होती है। इस फ़ैण्टेसीमें वस्तुतः एक भावनात्मक उद्देश्य समाया

सम्बन्धित जीवनानुभवोंसे उत्पन्न भावों और स्वरोंसे युक्त होकर इतना अधिक बदल जाता है कि लेखक उस पूरी फ़ैण्टेसीको एक नयी रोशनीमें देखने लगता है। मेरा मतलब है मूल फ़ैण्टेसीका मन जो खिंचा हुआ एक तम्बू था अब फैलकर एक पर्सपेक्टिवका रूप धारण करने लगता है। इस पर्सपेक्टिवसे समन्वित मूल मन शब्द-बद्ध होनेकी प्रक्रियामें बदल जाता है। वह पुराना मन न रहकर अब नया बन जाता है। उसमें नये मनस्तत्त्व आ जाते हैं। शब्द-बद्ध होनेकी प्रक्रियाके दौरानमें जबतक उस मनका जोश और बल क़ायम है तबतक वह नये तत्त्व समेटता रहेगा। किन्तु जब वह चुक जायेगा तब गति बन्द हो जायगी उद्देश्य समाप्त हो जायेगा। कविता वहीं पूरी हो जाना चाहिए। यदि वह पूरी नहीं हुई तो मनके साक्षात्कारमें कहीं कुछ कमी रह गयी विचार-ज्ञान ठीक नहीं रहा है, उद्देश्यमें कुछ कमज़ोरी आ गयी है — ऐसा मानना होगा।

यहाँ मैं रुक गया। इससे अधिक मैं कुछ भी नहीं कह सका।

रात काफ़ी हो गयी थी। सड़कोंपर रोशनीके बावजूद अँधेरा बढ़ गया था। सूनापन बढ़ रहा था। हवा देहसे चिपक रही थी। मन बहक गया था। मेरा मित्र चुप था। क्यों था?

ज़िन्दगी ही ऐसी है। कोई विचार किसीके कहनेसे अपने पूरेपनमें मनमें उपस्थित नहीं होता। मेरा मित्र अब मुझसे विदा हो गया है। अपने मतको प्रकट न करते हुए अब वह बहुत [illegible] थका गया है। उसके साथ दिन अच्छे कटे।

बहुत दिनों बाद उसकी चिट्ठी आयी। चिट्ठी नहीं थी वह पोस्टकार्ड था। केवल अन्तमें 'भाभीको प्रणाम बच्चोंको प्यार' आदि लिखा था। मैंने चिट्ठी पढ़ी नहीं। टेबिलके दराज़में डाल दी जिससे कि फ़ुरसतके वक़्त अध्ययन कर सकूँ। किन्तु मैं समय मिलनेपर भी उसे पढ़ नहीं पाया। इतनेमें उसका रिमाइण्डर भी आ गया। मैंने उसको भी दराज़में डाल दिया।

मस्तकमें इन दिनों चरम बीमारियोंने कई बिस्तर बिछा रखे थे। जिन्दगीमें मुझे उन बातोंकी तालीम लेनी पड़ी है कि जिन बातोंको मेरे स्वभावके विरुद्ध कहा जा सकता है। फलतः स्वभाव-विरुद्ध बातोंकी अनिवार्य तालीम लेनेकी भीषण प्रक्रियामें मेरी तबीयत भी खराब हो गयी।

फिर एक रातको जब करवटें सोयी हुई थीं और घरके आलेमें रखा दीया मन्द रोशनी फैला रहा था तब मैं अशान्त मनसे जिन्दगीके बारेमें सोचने लगा। मैं बहुत उदास हो उठा। लगा कि मेरी जिन्दगी असफलता की खाईमें पड़ी हुई एक बेबस चीज है॥

ऐसे ही खयालोंमें डूबता-उतराता मैं अन्तर्राष्ट्रीय घटना-चक्रोंकी तसवीरों तक पहुँच गया। अखबार-नवीस होनेके नाते मैं नये विचारोंको टीप लिया करता था। कागजकी तलाशमें टेबिलकी दराज खोली तो उसमें मित्रका पत्र और पत्रका रिमाइण्डर दोनों मिले। मित्रकी यादने दिल हल्का किया। मैं उसकी चिट्ठी कई बार पढ़ गया। वह चिट्ठी एक ठण्डे दिमाग की उपज थी। फिर भी मुझे वह गुलाबके इत्रसे तर मालूम हुई। कहना न होगा कि उसकी पृष्ठ संख्या कोई पच्चीस थी। बारीक सुडौल अक्षर, सुन्दर-स्वच्छ लिखावट और जहाँ-आवश्यक हो वहीं-वहीं पैरे—इस प्रकार है धाराप्रवाह वह चिट्ठी थी या चिट्ठीका बाप 'चिट्ठा' था—नहीं कह सकता।

दिन बीतते गये और अब मेरे सामने मेरे प्रश्नका जवाब पड़ा हुआ है। केशवने बहुत ठाटसे लिखा है—

' "यह सच है कि मध्य-वय होनेकी प्रक्रियाओंमें डेफ्टेली बदलने लगती है। यह कैसे होता है?

मेरे खयालसे इसके दो कारण हैं। दोनों कारण एक दूसरेसे जुड़े हुए हैं।

'हमारा तीसरा क्षण कलाका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और पूर्ण क्षण है।

यहाँसे फ़ैंटेसी साहित्यिक कलात्मक अभिव्यक्तिका रूप धारण करने लगती है।

यहाँसे शब्द-साधना शुरू होती है। शब्दके अपने ध्वनि-अनुषंग होते हैं जिनमें चित्र और ध्वनि दोनों शामिल हैं। कलाकार अपने हृदयके तत्त्वके रंग रूप आकारके अनुसार अभिव्यक्तिका रँग-रूप और आकार तैयार करना चाहता है। इसलिए उसे अपने हृदयकी भाव-ध्वनियोंकी, शब्दोंकी अर्थ-ध्वनियोंसे लगातार तुलना करनी पड़ती है।

इसके दो परिणाम होते हैं (१) भाव-ध्वनियोंको उपलब्ध शब्द-ध्वनियोंके कटघरेमें फँसानेका यत्न जिसके फलस्वरूप काफ़ी-से मनस्तत्त्व अपना मौलिक और मूल तेज त्यागकर एक नये रूपमें उपलब्ध आकारमें प्रकट होते हैं। कई कवि तो भाषाकी चमक और सफ़ाईके लिए अपने भाव-तत्त्वोंका बलिदान भी कर देते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि शब्द-बद्ध होनेकी प्रक्रियामें फ़ैंटेसीकी ही काट-छाँट होने लगती है। (२) किन्तु इसके विपरीत दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अभिव्यक्ति-साधनाके दौरान स्वयं अभिव्यक्ति फ़ैंटेसीको सम्पन्न और परिपूर्ण करने लगती है। फ़ैंटेसी अपनेको प्रकट करनेके लिए समानार्थ वाचक शब्दोंको लाती है। भाषा एक जीवित परम्परा है। शब्दोंमें एक स्पन्दन है। शब्दोंमें जो अर्थ-स्पन्दन है वह फ़ैंटेसी-द्वारा उद्बुद्ध होकर नयी भाव-धाराएँ बहा देता है। ये भाव-धाराएँ फ़ैंटेसीकी समीपवर्ती भाव-धाराएँ हैं। ये फ़ैंटेसीके वस्तुको और भी विस्तृत कर देती हैं उसके मौलिक तेजको और भी फैला देती हैं। इन भाव धाराओंमें अनेकों नये-पुराने अनुभव आगे-पीछेसे भाव सब प्रवाहित होते रहते हैं। फ़ैंटेसीके वस्तुकी अपूर्णता तो उससे बढ़ जाती है साथ ही उसके द्वारा फ़ैंटेसीको एक नया पर्सपेक्टिव प्राप्त हो जाता है। इस पर्सपेक्टिवसे संयुक्त होकर फ़ैंटेसी एक तेजोमयरूपमें चमकने लगती है। फ़ैंटेसी अब पूर्णरूपसे सार्वजनीन हो जाती है।

ऐसा क्यों? भाषा सामाजिक निधि है। शब्दके पीछे एक अर्थ

परम्परा है। ये अर्थ जीवनानुभवोंसे जुड़े हुए हैं। फ़ैन्टेसी अपने अनुकूल शब्दोंमें स्थित अर्थ-सम्पदाको उद्बुद्ध करती है। इन शब्दोंके बीचमें फ़ैन्टेसीको स्थिर करना पड़ता है इसलिए फ़ैन्टेसीका मौलिक तेज काफ़ी घट जाता है। शब्दोंके पीछेकी अर्थ-परम्परा फ़ैन्टेसीके मूल रंगोंको छाँट देती है उसके आकारमें परिवर्तन कर देती है, उसकी मौलिक महत्ता अर्थात् व्यक्तिगत सत्य भी उड़ा देती है। कई कवि शब्दोंकी अर्थ-परम्परामें आच्छन्न होकर भाषाकी सफ़ाई और चमकके निर्वाहके लिए प्रस्तुतीकरणके हेतु आतुर भाव-तत्त्वोंको ही काट देते हैं।

इसके विपरीत फ़ैन्टेसी-द्वारा उद्बुद्ध शब्दोंके अर्थ-अनुषंग और उनसे सम्बद्ध भिन्न नयी भाव-धाराएँ बहा देते हैं। ये भाव-धाराएँ फ़ैन्टेसीके अनुकूल और समीपवर्ती होती हैं। उन भाव-धाराओंमें अनेकों नये-पुराने अनुभव और अपने-पराये भाव होनेसे फ़ैन्टेसीकी अर्थवत्ताका विस्तार हो जाता है भाव ही इस विस्तृत दायरेमें ये भाव-धाराएँ फ़ैन्टेसीपर और फ़ैन्टेसी इन भाव-धाराओंपर क्रिया—प्रतिक्रिया करने लगती हैं। इस क्रिया-प्रतिक्रियासे फ़ैन्टेसीका क्षेत्र और विस्तृत हो जाता है अनुभवको परिप्रेक्ष्य प्राप्त हो जाता है। फ़ैन्टेसीके भीतरके मूल उद्देश्य और दिशामें विस्तार भर उठता है।

दूसरे शब्दोंमें, कलाके तीसरे क्षणमें सृजन प्रक्रिया जोरोंसे गतिमान होती है। कलाकारको शब्द-साधना-द्वारा नये-नये अर्थ-स्वरूप मिलने लगते हैं। पुरानी फ़ैन्टेसी अब अधिक सम्पन्न समृद्ध और सार्वजनीन हो जाती है। यह सार्वजनीनता अभिव्यक्ति प्रयत्नके दौरान शब्दोंके अर्थ-स्पन्दनों-द्वारा पैदा होती है। अर्थ-स्पन्दनोंके पीछे सार्वजनिक सामाजिक अनुभवोंकी परम्परा होती है। इसलिए अर्थ-परम्पराएँ न केवल मूल फ़ैन्टेसीको काट देती हैं तराशती हैं रंग उड़ा देती हैं, वरन् उसके साथ ही वे नया रंग चढ़ा देती हैं नव मार्गों और प्रवाहोंसे उसे सम्पन्न करती हैं उसके अर्थ उसका विस्तार कर देती हैं।

इसीलिए अभिव्यक्ति-प्रयत्नके दौरान कविको नये साक्षात्कार होते रहते हैं। एक ओर मूल फ़ैंटेसीके मूल-मर्मकी अभिव्यक्तिपर उस सम्पूर्ण व्यक्तित्वका केन्द्रीकरण हो जाता है तो दूसरी ओर इस केन्द्रीकरणके फलस्वरूप उसके व्यक्तित्वका विस्तार होने लगता है! उसे नये-नये साक्षात्कार हाथ लगते हैं। एक साक्षात्कार कई भाव-तथ्योंका उद्घाटन करता है। एक साक्षात्कार कविको दूसरे साक्षात्कार तक पहुँचा देता है। इस प्रकार यह प्रक्रिया चालू रहती है।

इस मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाके पीछे भाषाकी अपार अनवरत सत्ता स्थित है। भाषा फ़ैंटेसीको काटती-छाँटती है और इस प्रक्रियाके विपरीत फ़ैंटेसी भाषाको सम्पन्न और समृद्ध भी करती है।

कविकी यह फ़ैंटेसी भाषाको समृद्ध बना देती है, उसमें नये अर्थ अनुषंग भर देती है शब्दको नव चित्र प्रदान करती है। इस प्रकार, कवि भाषाका निर्माण करता है। जो कवि भाषाका निर्माण करता है, विकास करता है वह निस्सन्देह महान् कवि है।

'इस प्रकार कलाके तीसरे क्षणमें मूल द्वन्द्व है—भाषा तथा भावके बीच। इन दोनोंकी परस्पर प्रतिक्रिया और संघर्ष बहुत उलझे हुए होते हैं और वे उन दोनोंको बदलते रहते हैं। इन दोनोंमें संशोधन होता जाता है। यह द्वन्द्व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और सृजनशील है। भाषा एक परम्पराके रूपमें फ़ैंटेसीके मूल रंगको विस्तृत कर देती है किन्तु साथ ही उस फ़ैंटेसीमें संशोधन भी उपस्थित करती जाती है। साथ ही फ़ैंटेसी अपने मूल रंगोंके निर्वाहके लिए, अपने मूल रंगोंकी अभिव्यक्तिके लिए, भाषापर दबाव लाती है, उसके शब्दों और मुहावरोंमें नयी अर्थवत्ता नयी अर्थ-क्षमता नयी अभिव्यक्ति भर देती है। कलाके तीसरे क्षणमें यह महत्त्वपूर्ण द्वन्द्व है।

"इसीलिए कलाकारको यह महसूस होता रहता है कि जो उसे कहना था वह पूर्ण रूपसे नहीं कह सका और ऐसा बहुत कुछ कह गया जो

तुम्में, उसे मालूम नहीं था कि वह आयगा !! क्या यह भावना तुम्हें नहीं होती ? '

केशवके पत्रके मैंने कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत किये ! पत्र पढ़कर मुझे दुःख भी हुआ सुख भी । दुःख इसलिए कि इस बीच मैं स्वयं बहुत उलझ गया था और सुख इसलिए कि केशवने मेरी बात बहुत आगे बढ़ा दी । मेरा ख़याल है कि केशव इन बातोंका अब परीक्षण और पुनःपरीक्षण करता होगा ।

निस्सन्देह, केशव एक दिलचस्प आदमी है । किन्तु सबसे बड़ी बात है कि वह मेरा मित्र है । निस्सन्देह उसके साथ कोई नया काम शुरू करना आवश्यक है । मुझे बड़ी मदद होगी ।



एक लम्बी कविताका अन्त

कल ही मैंने एक लम्बी कविता खत्म की। उसका अन्त मुझे विचित्र-सा जान पड़ा। उसके अन्तपर जितना अधिक सोचता गया, मुझे लगा कि उस कविताको और बढ़ाना होगा कि वह अपने आप ही बढ़ जायेगी। मुझे उसकी सम्भावित लम्बाई-चौड़ाईको देख भय-सा जान पड़ा। भय इसलिए कि इतनी प्रदीर्घता हमारे यहाँ अच्छी नहीं समझी जाती। दूसरे यह कि उसके (मासिक पत्रोंमें) प्रकाशनमें बड़ी असुविधा हो जाती है। अगर किसी व्यक्तिको पकड़कर आप उसे अपना श्रोता भी बना लें, तब भी काम नहीं चलेगा क्योंकि उसकी प्रदीर्घता उबानेवाली होगी। तब क्या किया जाय?

क्या उसको काट-छाँट कर छोटा कर दिया जाये या उसके भीतर जो बातें जो गुत्थियाँ जो समस्याएँ प्रकट हुई हैं उनके चित्रणात्मक विकास-के लिए अवसर और क्षेत्र प्रदान किया जाये? दूसरे शब्दोंमें क्या मेरी कविताके अन्तर्तत्त्वोंको (अभिव्यक्तिके लिए) विकासका अवसर दिया जाये? मैं उसको विकास और प्रसारका अवसर देनेके पक्षमें हूँ। आज मैं मलीन मनसे उस कविताके चक्करमें पड़ा हुआ हूँ। या यों कहिए कि वह कविता हाथ धोकर मेरे पीछे पड़ी थी। बीच-बीचमें लोगोंके पत्र आते रहे – पिताजीके मित्रोंके कुछ अपरिचितोंके भी। लेकिन मैंने कुछ नहीं किया। जब लगा कि लोग बहुत बुरा मान जायेंगे मुझे गाली देंगे उनसे मेरे सम्बन्ध बिगड़ जायेंगे तब मैंने कलम ली और उन्हें दो शब्द लिख दिये।

इधर वह कविता मेरा पिण्ड नहीं छोड़ रही थी। अगर वह कविता भावावेशपूर्ण होती तो एक बार उसकी आवेगात्मक अभिव्यक्ति हो जाने पर मेरी छुट्टी हो जाती। लेकिन वैसा हो सकना असम्भव है, क्योंकि भावावेग किसी बातको लेकर होता है, वह बात किसी दूसरी बातसे जुड़ी होती है दूसरी बात किसी तीसरी बातसे।

इसी तथ्यको मैं यों कहूँगा — यथार्थके तत्त्व परस्पर गुम्फित होते हैं, साथ ही पूरा यथार्थ गतिशील होता है। अभिव्यक्तिका विषय बनकर जो यथार्थ प्रस्तुत होता है वह भी ऐसा ही गतिशील है और उसके तत्त्व भी परस्पर गुम्फित हैं। यही कारण है कि मैं छोटी कविताएँ लिख नहीं पाता और जो छोटी होती हैं वे वस्तुतः छोटी न होकर अधूरी होती हैं। (मैं अपनी बात कह रहा हूँ)। और इस प्रकारकी न मालूम कितनी ही कविताएँ मैंने अधूरी लिखकर छोड़ दी हैं। उन्हें खतम करनेका कला मुझे नहीं आती यही मेरी ट्रैजेडी है।

इससे भी बड़ी ट्रैजेडी यह है कि लोग मुझे गद्य लिखनेको कहते हैं। एक बार मैंने एक किताबकी रिव्यू की (वह भी ऊपरसे दबाव आनेपर) तो देखता क्या हूँ कि रिव्यूके लिए किताबोंपर किताबें आने लगीं। अब आप तो जानते ही हैं कि सचाईपर (सचाई वह जिसे आप यकीनन सचाई समझते हैं) कहीं-न-किसी हद तक बन्दिश लगी ही रहती है। इसीलिए रिव्यू करना जानसे खेल करना है।

मेरे हितचिन्तक अधिकारीगण! (वे मेरे प्रगाढ़ मित्र भी हैं — लेकिन लेखक मात्रको कल्पनाशील व्यक्तिकी वस्तु समझते हैं) — लेखकीय कार्यके प्रति उनकी अनास्था इस आस्थामें निष्पन्न होती है कि मनुष्यको अपनी आर्थिक और भौतिक उन्नतिके लिए ही काम करना चाहिए — इसलिए साल भर चार किताबें लिखकर चारेक हजारकी आमदनी नहीं की तो क्या किया! इसलिए मुझे सलाह दी गयी है कि मैं उपन्यास लिखूँ और अपना दलिद्दर मिटाऊँ।

मेरी स्त्री मेरी टेबलके पास आकर खड़ी हो जाती है, और उदास होकर मुझसे कहती है कि तुम क्या कर रहे हो? अच्छा कविता? इसपर कितने रुपये मिलेंगे?

अब मैं यह सोचता हूँ कि कलम घसीटते हुए मेरे बाल तो सफ़ेद हो ही गये। मेरे जीवनका यह अन्तिम कार्यकाल चल रहा है, तो मैं क्यों न अपनी कविताओंका संशोधन-परिशोधन करके उन्हें प्रकाशन-योग्य रूप दे दूँ?

लेकिन यह कविता है कि हाथ-पाँव पसारती जा रही है। और अब सुना है कि मुझे जल्दी ही एक कुंजी लिखनेका काम मिलेगा। मेरी आर्थिक कठिनाई कुछ तो हल हो ही जायेगी। इधर माता पिता भी आ रहे हैं। जरूरी है कि मैं लाभजनक कार्य हाथ में लूँ।

लेकिन बुरी बात तो यह है कि मुझे एक कामसे दूसरे कामपर जानेमें तकलीफ़ होती है। अब यह हालत है कि मुझे उस कविताको बार-बार पढ़नेकी उसमें बार-बार संशोधन करनेकी इच्छा होती है। लेकिन अब समय नहीं है फिर कभी देखूँगा।

लेकिन स्त्री मेरी टेबलके पास खड़ी हुई है। किसी जमानेमें जब वह छोटी थी (और मैं भी छोटा था) तो बड़ी आकर्षक थी। आज वह मुझे भर्त्सनात्मक प्रतीत होती है। उसको देखकर मेरे हृदयमें करुणा दायित्व भाव यथार्थका आतंक और भय—तरह-तरहकी भावनाएँ व्याप्त हो जाती हैं।

कि इतनेमें मेरी नजर दो चिट्ठियोंपर जाती है जो मेरी टेबलपर पड़ी हुई हैं एक है शरद जोशीकी दूसरी मलयकुमारजीकी।

दोनों मेरे अपने हैं। बस यही उनका दुर्भाग्य है क्योंकि अपनोंसे ऐंठना अपनोंकी उपेक्षा करना उन्हें गले पड़ी चीज समझना—आजके बहुत-से कलाकारोंका स्वभाव है। मैंने देखा है कि ऐसे कलाकार साधारणतः अपनेको मौलिक और प्रतिभाशाली और आधुनिक समझते हैं—शायद वैसे

होते भी हैं। दूसरे प्रकारके भी कलाकार होते हैं जिन्हें अपने लोग बड़े प्यारे होते हैं उनका यह हिसाब होता है कि अगर कोई कवि उनका दोस्त हुआ तो वह निस्सन्देह ऊँचा और अच्छा कवि तो हो ही गया। किन्तु यदि कोई लेखक यदि किसी दूसरी या तीसरी प्रकारकी मण्डलीमें रहता है, या नहीं भी रहता है लेकिन उनसे अलग है, तो यह धारणा बनानेकी प्रवृत्ति सबल हो जाती है कि वह यूँ ही लिखता है बकता भिनता है फ़िजूल लिखता है।

इस प्रकारकी मण्डलियोंमें जो चीज़ चलती है एक सीमित क्षेत्रमें वही श्रेष्ठ और वरणीय दिखायी देती है। उनके वे सब अपने हैं सगे हैं। इसलिए वे श्रेष्ठ भी हैं उत्तम भी हैं अच्छे भी हैं।

दूसरे शब्दोंमें एक विशेष प्रकारके लोग यदि अपनोंसे ऐंठकर उनकी उपेक्षा करते हैं तो दूसरे विशेष प्रकारके लोग उन्हींमें रहकर उनमें प्रचलित स्तरोंको कसौटी समझकर, कीर्ति प्राप्त करनेकी कोशिश करते हैं। यह भी सम्भव है यह 'घरे-बाहिरे'की समस्या हो यानी कि जो अत्यन्त आत्मीय हों उन्हें यूँ ही समझा जाय और जो पराये और परकीय हों उन्हें अपने आकर्षण विश्वास और श्रद्धाका आधार माना जावे।

मेरा ख़याल है कि सब लोग ऐसे नहीं होते। उन्हींमें मैं अपनेको गिनवाना चाहता हूँ। लेकिन यह एकदम सच है कि अपनोंकी उपेक्षाका अपराधी हूँ।

लेकिन मैं उन अपनोंसे क्या कहूँ कि यह कविता मेरा पिण्ड नहीं छोड़ती थी। यह नहीं कि मैं उससे रात-दिन चिपका हुआ था (क्योंकि वैसा असम्भव है) वरन् यह कि जब भी मैं देखता कि मेरे हाथमें काम आ गया है तो पाता कि वह मेरी कविता है और कुछ नहीं। मैंने न मालूम कितने ही महीने और वर्ष उस-जैसीपर ख़र्च किये हैं। और उससे मुझे कुछ नहीं मिला — न धन न यश न नाम न मोक्ष।

कुछ पागल लोग कीमियागर (ऐल्केमिस्ट) लोहेको सोना बनानेकी

फ़िक्रमें लगातार काम करते हुए नष्ट हो गये। कुछ दूसरे ढंगके पागल ज़मीनमें गड़े ख़ज़ानेको खोजने और कभी भी न पा सकनेमें इतने मशगूल रहे कि उनकी फ़ैमिलीने समाजने ज़मानेने उन्हें बेवकूफ़ क़रार दिया। कई तरहके पागल हुआ करते हैं, और मुझे अब समझमें आने लगा है कि हो न हो मैं भी उसी श्रेणीमें गिने जानेके योग्य हूँ। लेकिन नहीं मैं फिरसे समझदार बननेकी कोशिश करूँगा और गद्य लिखूँगा।

मैंने इस ओर काम भी शुरू कर दिया है। लेकिन क्या बताऊँ कि एक चीज़ है, जिसका नाम है धुन जिसका नाम है लौ। ये शब्द 'आधुनिक' नहीं हैं। फिर भी उनके अपेक्षा अस्तित्व मात्र भी विराजमान है। वह मुझे कविताकी ओर ही ले जाती है। लेकिन मैं वचन देता हूँ कि मैं कविता नहीं बल्कि गद्य लिखूँगा। इससे मुझे आमदनी भी हो जायेगी और कुछ यश भी बढ़ेगा।

मैंने सोचा है कि मैं हर कवितापर एक कहानी लिखूँ। क्या यह असम्भव है? साफ़ कहता हूँ कि मैंने ऐसा कभी भी करके नहीं देखा है। फिर भी सोचता हूँ कि ऐसा करूँ। क्यों? अब क्या बताऊँ कि इस तरह मुझे गद्य लिखनेकी आदत तो पड़ जायेगी। लेकिन उससे भी बड़ी बात यह होगी कि अगर कविता नहीं तो कविताकी आत्माको कहानीके रूपमें ही क्यों न सही मान्यता प्रदान करा सकूँगा। यह मेरी अभिलाषा है।

यह सही है कि मेरी कविता 'आधुनिकतावादी' है, कमज़ोर है। लेकिन मैं आधुनिकतावादियोंमें भी पुराना हो रहा हूँ और अब जल्दी ही रिटायर्ड हो जाऊँगा। मेरे-जैसे बहुत-से पुराने नयोंसे भयभीत हैं, डरके मारे अपने पुराने कुरतोंको उतारकर नया बुशकोट धारण कर रहे हैं। आजसे कोई पचीस-तीस साल पहले यह हालत थी कि नया लड़का भी मूँछें-वूँछें रखकर और दूसरे तौर-तरीक़ोंसे अपनेको बुज़ुर्ग-जैसा गम्भीर बनाये रखना चाहता था। आज हालत यह है कि बुज़ुर्ग भी बालक बनना चाहते हैं और चपल-चंचलता सूचित करनेके लिए उसी तरहकी पोशाक भी धारण

करते हैं। इसका कारण था। पहले समाज और परिवारपर बुजुर्गोंका वजन था आज नवयुवकों और बालकोंका जोर है। दो एक साल पहले मैं यू॰ पी॰ गया हुआ था। वहाँ जाकर देखना पड़ा है कि एक स्वनाम धन्य अत्याधुनिक महानुभाव दुःखी हैं। पूछनेपर पता चला कि वे नयी पीढ़ीके कारनामोंसे पीड़ित हैं। जब मैंने उनकी कहानी सुनी तो मुझे भी पीड़ा हुई।

लेकिन सवाल यह है कि अगर समाज और परिवारपर बुजुर्गोंका वजन नहीं है, तो आज बुजुर्ग वे स्वयं दोषी हैं अपराधी हैं। स्वयं वे कहीं चूक गये इसलिए मात खा गये।

मेरा अपना विचार है कि जिस भ्रष्टाचार, अवसरवादिता और अनाचारसे आज हमारा समाज-व्यथित है उसका सूत्रपात बुजुर्गोंने किया। स्वाधीनता प्राप्तिके उपरान्त भारतमें दिल्लीसे लेकर प्रान्तोंकी राजधानियों तक भ्रष्टाचार और अवसरवादिताके जो दृश्य दिखायी दिये उनमें बुजुर्गोंका बहुत बड़ा हाथ है। अगर हमारे बुजुर्गोंपर नये तरुणोंकी श्रद्धा नहीं रही तो इसका कारण यह नहीं है कि वे अनास्थावादी हैं वरन् यह कि हमारे बुजुर्ग श्रद्धास्पद नहीं रहे। और अगर हमारे युवक अनास्थावादी हैं तो भी कोई बुराई नहीं है क्योंकि अनास्थाका जन्म आस्था ही से होता है। अनास्था आस्थाकी पुत्री है। फर्क यह है कि आजके पहले दर्शकोंके सामने रंग-मंचपर आस्था नाटक खेला करती थी और अनास्था नेपथ्यमें सूत्र संचालन करती थी तो आजकल रंग-मंचपर अनास्था नाटक करती है और आस्था नेपथ्यमें बैठकर सूत्रधार सूत्र-संचालन करती है। यह मैं माननेके लिए तैयार नहीं हूँ कि आजके नवयुवकोंमें केवल धुआँ शेष रह गया है और आग नहीं है। आग है और वह भीतर-ही-भीतर है। लेकिन नवयुवक पाता है कि आज उस आगकी कोई कीमत नहीं रह गयी है। इस व्यावहारिक जगत्में जिसे कभी पश्चिमीसे प्रमाण भी कहा जाता है उस आग को पुराना भार जैसा-कुछ माना जा रहा है। वह आग उनकी निज

की है, लेकिन उसके कारण सामाजिक हैं — अधिकतर। लेकिन अगर ऊपर कही हुई बात सच है तो सवाल यह है कि उसके काव्यमें वह बात झलकती क्यों नहीं ? प्रश्न स्वाभाविक है।

इसका उत्तर इस प्रकारसे दिया जा सकता है। बुजुर्गोंने सत्ताधिकारियोंने, समाज-संचालकोंने आर्थिक शक्तिसे सम्पन्न वर्गोंने, समाजके प्रत्येक स्तरपर प्रकट और अप्रकट सूक्ष्म और स्थूल भ्रष्टाचारका विकास कर रखा है। इस भ्रष्टाचारके कई रूप हैं। कभी वह क़ानूनके रूपमें भी प्रकट होता है, कभी क़ानूनकी आड़में गैर-क़ानूनी रूपमें। क़ानून या नियम तो आर्थिक शक्तिसे सम्पन्न प्रभावशाली लोगोंकी सुविधाके लिए हैं।

तो इस प्रकारके वातावरणमें फ़िट होनेके लिए हमारी सम्भ्रान्तोंका यह तक़ाज़ा होता है कि किसी-न-किसी तरह शैतानसे समझौता करके पलेको भी पक्का करो। बड़े-बड़े आदर्शवादी आज रावणके यहाँ पानी भरते हैं, और हाँमें हाँ मिलाते हैं। बड़े प्रगतिशील महानुभाव भी इसी मर्ज़में गिरफ़्तार हैं। जो व्यक्ति रावणके यहाँ पानी भरनेसे इनकार करता है उसके बच्चे मारे-मारे फिरते हैं। और आप जानते हैं कि ख्याति प्राप्त यशोदीप्त प्रगतिशील महानुभाव भी (मैं सबकी नहीं कह सकता) उनपर हँस पड़ते हैं या कभी-कभी तुच्छके प्रति दयाके भावसे परिप्लुत हो उठते हैं। तो संक्षेपमें जो व्यक्ति फटे हाल और फटीचर है, उसे मान्यता देनेके लिए कोई तैयार नहीं चाहे वह कितना ही नैतिक क्यों न हो।

तो ऐसी दयनीय हास्यास्पद दशासे बचनेके लिए अगर हमारे नवयुवक चतुरताका प्रयोग करें तो इसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए। वे भी रावणके किसी दासके अनुदासके उपदाससे अपना रिश्ता क़ायम करनेमें लगे हुए हैं। और रावणके राज्यका एक मूल नियम यह है कि जो अपना अनुभूत वास्तव है उसपर परदा डालो। इसलिए हमारे बहुत-से कवि

और चमत्कार, भारी स्वरके उस वास्तवको नहीं मिलते हैं जिसे वे भोग रहे हैं क्योंकि वे उस वास्तवको इतना अधिक जानते हैं कि अति-परिचयके कारण भी उस वास्तवसे दूर भागना और उससे रहना चाहते हैं। अनुभूत वास्तवका आज जितना अनादर है उतना पहले कभी नहीं था।

यह नहीं कि आजका कथा साहित्य अयथार्थवादी है अथवा यथार्थ-विरोधी है, बल्कि यह है कि लेखक यथार्थके नामपर, अनुभूत यथार्थ (अपने जीवनके वास्तविक यथार्थ) से दूर निकलकर किसी औरके यथार्थसे कहानियाँ और उपन्यास गढ़ना चाहता है। मैं यह नहीं कहना चाहता कि हमारे लेखकके पास प्रतिभा नहीं है बल्कि यह कहना चाहता हूँ कि उसमें मानवीय अन्तरात्मा — मानवीय विवेक-चेतना — की हलचल मचानेवाली पीड़ा नहीं है क्योंकि वह जरूरतसे ज्यादा समझदार हो गया है, और समझदारीका यह तकाजा है कि जिस दुनियामें हम रहते हैं उससे हम समझौता करें।

आजके साहित्यकारका आयुष्य-क्रम क्या है? विद्यालय डिग्री और इसी बाद साहित्यिक प्रयास विवाह पर आधारित परिस्थितिजन्य मिलिन महानोंसे व्यक्तिगत सम्पर्क श्रेष्ठ प्रकाशकों-द्वारा अपनी पुस्तकोंका प्रकाशन सरकारी पुरस्कार, अथवा ऐसी ही कोई विशेष उपलब्धि; और चालीसवें वर्षके आस-पास अमरीका या रूस जानेकी तैयारी किसी व्यक्ति या संस्थाकी मार्फत अपनी कृतियाँका अंग्रेजी या रूसीमें अनुवाद किसी बड़े भारी सेठके यहाँ या सरकारके यहाँ ऊँचे किस्मकी नौकरी।

अब मुझे बताइये कि यह वर्ग क्या तो यथार्थवाद प्रस्तुत करेगा और क्या आदर्शवाद? स्वामी विवेकानन्द आजसे कोई सौ बरस पहले यह घोषित कर चुके थे कि भारतके उच्चतर वर्ग नैतिक रूपसे मृतक हो गये हैं। वे कहते हैं "भारतकी एकमात्र आशा उसकी जनता है। उच्चतर वर्ग दैहिक और नैतिक रूपसे मृतवत् हो गये हैं।"

अगर उच्चतर वर्गोंकी यह हालत उस समय थी तो आज हम सिर्फ

यह कहूँगे कि इस समय भारतका उच्चतर वर्ग नैतिक रूपसे खूब प्रबल हो गये हैं और वहाँतक नैतिकताका प्रश्न है वह न पहले कभी थी न आज है। नैतिकताके स्थानपर आज सिर्फ सौदेबाजी और अवसरवादिता है। स्वामी विवेकानन्दने एक बार यह भी कहा था मैं एक समाजवादी हूँ इसलिए नहीं कि वह एक सर्वगुण-सम्पन्न-सम्पूर्ण व्यवस्था है बल्कि इसलिए कि रोटीके अभावकी अपेक्षा आधी रोटी बेहतर होती है। अन्य व्यवस्थाओंकी परीक्षा की जा चुकी और उनमें अभाव ही अभाव पाये गये। अब इस (व्यवस्था) की भी परीक्षा कर ली जाय — अगर और किसी बातके लिए नहीं तो केवल नवीनताके लिए ही क्यों न सही! ध्यानमें रखिये ये बातें जो स्वामी विवेकानन्दने कही रूसी राज्य क्रान्तिके पहले कही गयी हैं।

मैंने स्वामी विवेकानन्दका नाम क्यों लिया। इसलिए कि अब मैं बुजुर्ग होने जा रहा हूँ और पीछेकी ओर देखनेका अभ्यास कर रहा हूँ। लेकिन यह भी मैं बता देना चाहता हूँ कि आजका उच्चतर वर्ग अधिक जड़ और अधिक प्रतिगामी हो गया है। वह इस समय साहित्यमें ऐसे विचारोंका प्रचार करना चाहता है जिनके द्वारा हमारा साहित्यिक व्यक्ति अनुभूत वास्तवोंकी यथार्थिकता और मानवीयतापर परदा डाल दे और वह जनताकी ओर उन्मुख न हो। जनताके विरोधका एक उदाहरण लीजिये। हमारी नयी कवितामें बहुत बार, ऐसे भाव-विचार प्रकट किये जाते हैं जो नितान्त प्रतिक्रियावादी हैं। 'नयी कविता की 'फ़ार्म'का सवाल नहीं है' सवाल है उन दृष्टियोंका जो मेरे ख़यालसे बिलकुल ग़लत हैं ग़लत ही नहीं बल्कि प्रतिक्रियावादी हैं।

आजके युवककी बाह्य स्थिति और अन्तःस्थितिका वर्णन करते हुए एक कवि कहता है कि अगर बाह्य जगत्में काम करना पड़ा तो लामुहाला मुझे 'भीड़' बन जाना पड़ेगा मैं 'जुलूस में शामिल हो जाऊँगा' लेकिन 'भीड़ और 'जुलूस तो मनुष्यके व्यक्तित्वके परिहारका अन्तर्व्यक्तित्वके संहारका सूचक है इसलिए मेरी मुक्ति कहीं भी नहीं है।

एक पुराना प्रयोगवादी कवि भी 'भीड़'से घबराता है। भीड़के प्रति भयानक प्रतिक्रिया करते हुए वह उससे दूर हटना चाहता है, 'भीड़'के प्रति घृणा व्यक्त करता है।

निस्सन्देह ये दोनों कवि अपनी तरहसे अपनी बात कहते हैं मेरी तरहसे नहीं किन्तु ऊपर मैंने उनकी दृष्टिके सम्बन्धमें लिखा है, न कि उनकी विशिष्ट पंक्तियोंके विशिष्ट आशयके सम्बन्धमें।

कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति यह जानता है कि एक स्थानमें एकत्र संगठित जनता भीड़ नहीं है, क्योंकि वह संगठित है। जहाँ संगठन है वहाँ एक प्रेरणा और एक उद्देश्य भी है। जहाँ एक प्रेरणा और उद्देश्य है वहाँ एक स्फीत और सक्रिय चेतना है। देश-विदेशके पिछले इतिहाससे हमें यह सूचित होता है कि संगठित जनताने असाधारण काम किया है।

हाँ यह सही है कि इस संगठित जनताकी प्रेरणा और उद्देश्यको देखकर ही यह निश्चित करना होगा कि यदि वह प्रेरणा और उद्देश्य उचित है तो वह संगठित एकत्रीकरण भी सर्वथा उचित है। और यदि वह प्रेरणा और उद्देश्य गलत है तो वह संगठित एकत्रीकरण भी अनुचित है।

किन्तु हमारे कई नये कवियोंको उस एकत्रीकरणसे ही डर लगता है, जिसे जनताका सामूहिक रूप कह सकते हैं। उसे सामूहिकतासे चिढ़ है। क्यों?

इसलिए कि पश्चिमी विचार-पक्ष उसे वैसा ही सिखाते हैं। उसे सिखाया गया है कि सचेत आत्म-निर्णीत विवेक परक संदर्भसे शून्य होकर व्यक्ति अपनेको समूहमें विलीन कर देता है। इसलिए हे जागरूक सचेत महानुभाव तुम अपनेको समूहमें विलीन मत करो।

दूसरे शब्दोंमें जनता समूह है—वह अन्ध है, अन्धकार-ग्रस्त है वह जल्दी ही भीड़ बन जाती है। उसका साथ मत दो। तुम सचेत व्यक्तित्व वाला प्राण-केन्द्र हो। उसमें अपने आपको विलीन मत करो।

अपने अन्तिम निष्कर्षमें यह विचारधारा अत्यन्त प्रतिक्रियावादी है,

यह जनके प्रति घृणापर आधारित है, और बुद्धिजीवियोंको जनतासे अलग करके रखनेका एक उपाय है।

यह विचारधारा अबतक भारतमें नहीं थी। वह इस समय उपस्थित है। सब नए कवि जनताको घृणा नहीं करते हैं। लेकिन कुछ ऐसे हैं जो इस प्रतिक्रियावादी विचारधाराको अपनाते हैं। यह विचारधारा नयी है।

हमारे विश्वविद्यालयोंके कुछ केन्द्र ह्रासग्रस्त साम्राज्यवादी देशोंकी विचारधाराओंको हिन्दीमें प्रचलित करते हैं। प्रचारके कई तरीके हैं। जैसे गोष्ठी परिसंवाद सेमिनार प्रकाशन इत्यादि।

भारतके उच्चतर वर्गोंके बहुतसे कलाकार ठेठ पश्चिमी साम्राज्यवादी विचारधाराओंको अपनाकर उनका प्रचार करते हैं। उन विचारधाराओं और दृष्टि-बिन्दुओंका प्रचार साहित्यमें भी होता है। फ़र्क़ यह है कि यह विचारधारा अधिक सूक्ष्म अधिक युक्ति-युक्त होकर, औचित्य और सुरुचि-का जामा पहनते हुए साहित्यमें उपस्थित होती है। ऐसी विचारधाराएँ जन-भय और जन-घृणापर आधारित हैं। भारतके उच्चतर वर्ग पश्चिमके साम्राज्यवादी देशोंकी अद्यतन राजनैतिक और सांस्कृतिक मनोवृत्तियोंको आत्मसात् करते हुए अपने सांस्कृतिक प्रभावको विस्तृत करना चाहते हैं। छोटे या मझोले मध्य-वर्गके महत्वाकांक्षी लेखक पद और प्रतिष्ठाके लोभमें वहींके दरवाज़े जाते हैं। उन्हींसे सामंजस्य स्थापित करते हैं और जाने या अनजाने साहित्यमें उन्हीं उच्चतर वर्गोंकी अद्यतन राजनैतिक सांस्कृतिक मनोवृत्तियोंके उन्हींके प्रभावों और विचारोंके उन्हींकी वृत्तियों और भावों-के संवाहक बन जाते हैं। यह एक वास्तविक जीवन-तथ्य है। इससे इनकार नहीं किया जा सकता। यहाँतक कि उनके दरवाज़े जाकर उनकी कृपासे सभ्य जीवनकी सुन्दर साज-सज्जा प्राप्त करके उन अपनोंसे घृणा और तिरस्कार करने लगते हैं कि जिनमें वे जनमे थे। उन अपनोंके जीवनकी बदरंग सूरत उनमें उनके विरुद्ध एक तड़पती हुई प्रतिक्रिया पैदा कर देती है। उन अपनोंसे हटकर, वे अपने स्वामियों या उच्च सत्ताधिकारियों या

सामन्तादिक प्रभाव सम्पन्न व्यक्तियोंकी खुशामद करनेमें एक दूसरेकी होड़ करने लगते हैं। और इस होड़के दौरान एक व्यक्ति या सत्ताके आसपास गुट या दल बन जाते हैं। चारित्रिक संकट उत्पन्न हो जाता है। साहित्यिक क्षेत्रमें यह चारित्रिक संकट एक प्रकारसे व्यक्त होता है आर्थिक क्षेत्रमें यह चारित्रिक संकट दूसरे प्रकारसे व्यक्त होता है राजनैतिक क्षेत्रमें यह चारित्रिक संकट किसी तीसरे प्रकारसे व्यक्त होता है। मूल बात यह है कि यह संकट लाभ-लोभके फलस्वरूप और उस लाभ-लोभसे प्रेरित 'सफलतावाद' से पैदा होता है। जबतक समाजपर धनका शासन रहेगा तब तक यह चारित्रिक संकट अधिकसे अधिक असन्तोष और अव्यवस्था उत्पन्न करनेके अतिरिक्त मानव-मूल्योंको हानिके साथ ही लाभ-लोभसे प्रेरित सफलतावादकी प्रधानता बढ़ा जायगा आदमी [illegible] टुच्चा और ओछा होता चला जायगा। फलतः न केवल सामान्य जनतापर उनके दासों-उपदासों-द्वारा शोषणका भार बढ़ता जायेगा वरन् यह कि उन स्वामियों और दासों तथा उपदासोंके चारित्रिक अधःपतनसे उत्पन्न परिस्थिति भी सामान्य जनताके लिए अधिकाधिक भयावह और दुःसह होती जायेगी। ऐसे भयानक दृश्योंका विस्तार भारतमें आज भी कम नहीं है।

तो मैंने यह सब क्यों लिखा? इसलिए कि आज लेखकको इस परिस्थितिमें जीवन-यापन करना पड़ रहा है। और चारित्रिक अधःपतनके मानसिक कष्टों और आन्तरिक ग्लानियोंका अनुभव करना पड़ रहा है। इस परिस्थितिसे आप इस स्थितिको भी मिलाकर देखिए कि हिन्दी क्षेत्रमें कोई व्यापक संजीवनकारी आन्दोलन या हलचल नहीं है जो सम्भवतः अन्य भाषा भाषी प्रान्तोंमें है।

ऐसी स्थितिमें तो जब कि बाह्य-समाजमें संजीवनकारी उत्प्रेरक आन्दोलन या ऐसी संगठित शक्ति नहीं है एक संवेदनशील मन जिसमें भरसक अवसरवादी चौकस और लाभ-लोभका सफलतावादी विकसित नहीं

हुई है केवल अपनेको निःसहाय अनुभव करता है। यदि यह कवि हुआ तो सहज मानवीय आशा-आकांक्षाओंकी पूर्तिके सामाजिक वातावरणके अभावमें उसके काव्यात्मक रंग अधिक श्यामल अधिक बोझिल और अधिक आत्म-ग्रस्त हो जाते हैं।

हाँ तो मैंने अपनी एक कवितामें उन्हीं रागकी रंगोंका प्रयोग किया है। अन्तर केवल यह है कि इस श्यामलताके कार्य-कारण सम्बन्ध भी वहाँ प्रस्तुत किये गये हैं। अब कविता कोई निबन्ध तो है नहीं कि जिससे श्रोताओंको कारण हालातकी जानकारी मिले न वह कोई नाटक है जिसमें पात्र प्रस्तुत होकर मूर्त रूपसे जीवन-यथार्थ उपस्थित करते हैं। कविता एक संगीतकी तरह अन्य सब कलाओंसे अधिक अमूर्त है। वहाँ जीवन यथार्थ केवल भाव बनकर प्रस्तुत होता है, या बिम्ब बनकर या विचार बनकर। कविताके भीतरकी सारी नाटकीयता वस्तुतः भावोंकी गतिमयता है। उसी प्रकार कविताके भीतरका कथा-तत्त्व भी भावना इतिहास है।

तो फिर ऐसी स्थितिमें यह असम्भव नहीं है कि कविताको अनेक असम्बद्ध गद्य चित्रोंमें प्रस्तुत किया जाये। अथवा अनेक असम्बद्ध गद्य-चित्र कुछ इस तरह आलोकित और दीप्तिमान हो उठें कि छन्द बन जायें गतिमान हो जायें और एक विचार दिशाकी ओर प्रवाहित हो सकें।

पता नहीं क्यों और कैसे मैंने एक काव्य-कथा लिख दी। निस्सन्देह उसमें कथाका केवल आभास है, नाटकीयताकी केवल मरीचिका है। वह विशुद्ध आत्मगत काव्य है और उस काव्यके रंग साँवले हैं बिल्कुल साँवले। भय आतंक अनिश्चय जिज्ञासा कुतूहल और समाधान घबराहट और दुश्चिन्ता उसमें झलक उठती है। वह असलमें एक एलिगेरी है — एक रूपक है।

वह रूपक क्या है?

एक व्यक्ति है, जो समझता है कि वह एक ऐसे अहातेमें चला आया जहाँ पहुँचना प्रतिबन्धित है। उस अहातेके भीतर एक बंगला है — पुराना-

गुज़रता। बंगला रहस्यमय है। वह सूना है। वहाँ उसे एक आदमी मिलता है जो गुप्तचर प्रतीत होता है। एक दूसरा आदमी मिलता है जो बिल्कुल पागल है। कविताके अन्तमें बताया जाता है कि इस बंगलेकी दीमकें ज़मीनके भीतर-भीतर चलती हैं व कई देशोंमें जा निकली हैं वे शहरके सांस्कृतिकमें भी चुपचाप पहुँच गयी हैं और मानव-मस्तकके भीतरके सर्वोच्च स्थानपर भी। इस बंगलेसे सबने अपना-अपना सामंजस्य स्थापित कर लिया है। इसी सामंजस्य-स्थापनाके फलस्वरूप सब लोग अन्दरसे टूट गये हैं उनके दिलकी कई फाँकें हो गयी हैं। इसी कारणसे प्रतीत होता है कि वहाँ एक भयानक-सत्ता है। अर्थात् एक नकारवाद है। संसारमें यह बंगला काम-लोभकी सर्वव्यापिनी सत्ताका प्रतीक है जिससे सामंजस्य और सन्तुलन स्थापित करके लोगोंने अपने आपको झुठला दिया है। बंगलेके भीतर आत्माकी हत्या हो चुकी है। और इस हत्याकाण्डसे सब लोग परिचित होते हुए भी चुप हैं क्योंकि वे उस बंगलेकी सत्तासे सामंजस्य स्थापित किये हुए हैं।

कथामें यह रूपक एक सिलसिलेसे सामने आता है, लेकिन कवितामें यह सिलसिला टूट जाता है उसी तरह जैसे स्वप्नके भीतर स्वप्न आते हों – उलट-पुलट होकर। कवितामें मैंने उस उलट-पुलटपनका निर्वाह करनेका प्रयत्न किया है।

सोचता हूँ कि अपनी इस प्रदीर्घ कविताको किसी कहानीका रूप दे दूँ। सम्भव है कहानीकी कोई मासिक पत्रिका मुझे कमसे कम पन्द्रह बीस रुपये दे दे। इससे मैं अपने मित्रोंके सामने यह सिद्ध कर सकूँगा कि मैं अयोग्य नहीं हूँ और रुपये कमा सकता हूँ। मुंशी लिखनेका काम मैं चार दिनके बाद करूँगा। क्यों ठीक है न?

■

डबरेपर सूरजका बिम्ब

जब उससे मैं सड़कपर मिला, मुझे लगा कि वह ठीक बात करनेके मूडमें नहीं है। राहमें मुझे देखकर वह खुश नहीं हुआ था। उसकी शर्टकी पीठ पसीनेसे तर-बतर थी, बाल अस्त-व्यस्त थे। और चेहरा ऐसा मलिन और क्लान्त था मानो सौ जूते खाकर सवारी आ रही हो। तत्काल निर्णय लिया कि वह सरकारी दफ़्तरसे लौट रहा है, कि वह पैदल आ रहा है, कि वह यहाँ अहलकारको किसी ऊँची या नीची साहित्यिक या राजनैतिक स्कीमका ही एक हिस्सा है, कि वह मुझे फ़र्स्ट बनाव मूड-मूडमें देख सिर्फ़ आगे बढ़ जाना चाहता है क्योंकि वह वयमें बड़ा होकर, कॉन्ट्रास्ट खड़ा नहीं करना चाहता।

पुराने ज़मानेमें भूखे व्यक्तिको अन्न देनेसे जितना पुण्य मिलता था आधुनिक कालमें शायद उससे भी अधिक पुण्य श्रमसे मलिन और थके हुए व्यक्तिको एक कप गरम-गरम चाय प्रदान करते हुए दो मीठी बातें करनेसे मिल जाना चाहिए। मेरे इस तर्कका आधार यह है कि आजकल सच्चा श्रम जिससे चेहरा सूख जाता है, पसीना आता है, कपड़ोंकी इस्तिरी बिगड़ जाती है, औंछे हुए बाल अस्त-व्यस्त हो जाते हैं, उँगलियोंको स्याही लग जाती है, आँखें कमज़ोर हो जाती हैं, अपनेसे बड़े पदाधिकारियोंके मारे दिल धक-धक करता है। मतलब यह कि कम-से-कम मानवोचित सुविधाओंमें अधिक-से-अधिक श्रमकी अमूल्य-मूर्ति — दुनियाकी तो छोड़ ही दीजिए — अपने भाइयोंकी, उनकी आँखोंमें भी हज़ार सहानुभूतियोंके बावजूद सूक्ष्म और स्थूल अनादरकी पात्र है, अवमाननाकी पात्र है। ट्रैजडी

तो यह है कि ऐसी मनुष्य-मूर्ति अपने स्वयंको औरोंकी भी अनादर और असम्मानकी ही पात्र होती है। इस विश्व-व्यापी और अन्तर्यामी अनादर और असम्मानकी धूल धारण कर, हृदयमें बासी कड़ुआ बाहर छिपे हुए थके त्रस्त और भ्रमित व्यक्ति जब अपने दफ़्तरोंसे बाहर दो मील दूर अपने घरकी तरफ़ लुढ़कते-पुढ़कते निकलते हैं तो उनके मनम और हमारे मनमें ममता कितना महान् आध्यात्मिक मूल्य अवतरित होता है, यह वर्णनातीत है!

इस तिराहेपर खड़े होकर मुझे उस व्यक्तिकी ज़रूरत महसूस हुई। वह मेरा परिचित था। आख़िर जब मैं इस कालमें अकेला खड़ा हूँ तो वह मुझसे बातचीत तो कर ही सकता था। मुझे लगता था कि जबतक मैं अपनी बकवास पूरी नहीं कर लूँगा मुझे चैन न मिलेगी।

मैं पान चबा रहा था। युवक था। ऐसे मौक़ेपर मनुष्य स्वभावतः बुद्धिमान हो जाता है। उसमें आत्म विश्वासकी तेजस्विता रहती है — वह दम्भ-स्वार्थी ही क्यों न हो। वह आशावादी होता है। वह नसीहत दे सकता है। वह दूर-दृष्टा होता है चाहे तो पैग़म्बर हो सकता है चाहे तो वह रोमैण्टिक प्रेमी बन सकता है। वाह-वाह! युवकपन तेरा क्या कहना! बिना श्रमके जो प्राप्ति होती है, करामात होती है वहाँ तू है!

पल-भर मैं संकोचकी गटर-गंगामें डूब गया। मैं रोबको (सचमुच) फ़र्स्ट क्लास कपड़े पहने था। बेहतरीन सूट। मैं गया था शहरके ऊँचे दर्जे के कुछ लोगोंसे मिलने। वहाँ या तो महँगी क़िस्मकी बारीक कपड़े पहनते थे या मैं कपड़े। आजकल मैं माया बेकार हूँ। अपने ही वतनमें शरणार्थी हूँ। सिफ़ारिश कुछ 'बड़े' आदमियोंके यहाँ जाकर, एक असिस्टेण्ट डायरेक्टर के पद (वह जगह अभी ख़ाली नहीं हुई थी लेकिन सुना था कि होनेवाली थी) के लिए कोशिश कर रहा था।

और क्योंकि आप ऐसे कपड़े पहन लेते हैं अपने घिसे-पिटेपनको ऐश्वर्यकी संज्ञा मानते हुए (थोड़ी देरके लिए ही क्यों न सही) अपने को 'बादशाह' अनुभव करते हैं! गौरव और गरिमाकी यह संवेदना!! तेरा

नाम सत्य है, तेरा नाम शिव है, तेरा नाम है सौम्य !

लेकिन शहरके उस फ़ैशनेबल मुहल्लेके अपने आत्मीयोंसे लौटकर मुझे आकस्मिक यह भावना हुई कि मैं अकेला हूँ कि अपनी असली मेंपीके साथीके साथ बैठकर ही मैं अपने आनन्दका वितरण और उपभोग कर सकूँगा। और इसी अन्त-प्रवृत्तिके अनजानी चाहके फलस्वरूप मैं ऑफ़िससे लौटते हुए उस व्यक्तिको आमन्त्रण दे बैठा।

लेकिन ज्योंही मैं उसके साथ चाय पीने लगा, हम दोनोंके बीच एक गहरीकी चुप्पीकी रेखा दूरीका माप-दण्ड बननेकी कोशिश करने लगी। मैंने उदारताकी पराकाष्ठा करते हुए उसके लिए एक कप चाय और मँगवा दी!

मैं अपने शरीरपर पड़े हुए कपड़ोंसे लगातार सचेत था। ये वस्त्र ही हैं कि जो मुझे उससे दूर ठेले जा रहे थे। इस संकोचको दूर हटानेके लिए मैंने कोट उतारकर रख दिया। गरमीके बहाने शर्टके बटन इस प्रकार खोल दिये कि अन्दर उसकी पहनी हुई जीर्ण-शीर्ण फटी बनियान लोगोंको दिखाई दे सके!

मैं चाहता था कि वह मेरे अन्दरकी चाहको देखे। लेकिन शायद वह अपनी धुनके धुँधलकेमें उड़ते हुए थके-हारे पंछीकी भाँति नीड़में समाना चाहता था। घर लौटना चाहता था।

मैं अपनेको उससे एक मन ऊँचा अनुभव न करूँ और उसकी महसूस ना था। न लेख छपनेके कारण उससे एक मन नीचा भी न अनुभव करूँ इसलिए उसका भी खुश करके उसके साथ हँस-बोल लेनेके लिए मैंने उससे पूछा, 'कल ऑल इण्डिया रेडियोसे मैंने आपकी कहानी सुनी। बहुत अच्छी थी! पढ़ी भी अच्छी गयी!"

उसने मेरी तरफ़ ध्यानसे देखा — यह जाननेके लिए कि मेरा इरादा क्या हो सकता है!

उसने प्रसन्नतापूर्वक कहा, 'अजी, आप तो बस—यार ही आलोचक

है, मुझे बताइये। मैंने विश्वास दिलाया कि उसकी कहानी बहुत अच्छी थी, क्योंकि वह सचमुच बहुत अच्छी थी। लेकिन उसका जी नहीं भरा।

उसने मेरी तरफ़ गौरसे देखा। वह एक पतला-लम्बा चेहरा था। कुदरतसे ज़्यादा ऊँचा माथा—शायद आगेके बाल कम होनेके कारण! मुझे ऐसे चेहरे पसन्द हैं। ऐसे लोगोंमें आप डूब सकते हैं और आपकी दुर्बलताओंको वे एप्रूव करने (मज़ा लेने) की ताक़त रखते हैं। कम-से-कम मेरा ऐसा ख़याल है। मेरे-द्वारा की गयी प्रशंसाके प्रति उसकी सन्देहकी दृष्टि मुझे बहुत-बहुत भायी। एक सच्चा लेखक जानता है कि वह कहाँ कमज़ोर है, कि उसने कहाँ सचाईसे जी चुराया है, कि उसने कहाँ लीपा-पोती कर डाली है, कि उसने कहाँ उलझा-चढ़ा दिया है, कि उसे वस्तुतः कहना क्या था और कह क्या गया है, कि उसकी अभिव्यक्ति कहाँ ठीक नहीं है। वह इसे बख़ूबी जानता है। क्योंकि वह लेखक सचेत है। सच्चा लेखक अपने खुदका दुश्मन होता है। वह अपनी आत्म-शान्तिको भंग करके ही लेखक बना रह सकता है। इसीलिए लेखक अपनी कसौटीपर दूसरोंकी प्रशंसाको भी कसता है और आलोचनाको भी। वह अपने खुदका सबसे बड़ा आलोचक होता है।

बेचारा सतह तल-ऊपर आलोचक यह सब क्या जाने! वह केवल बाह्य प्रभावकी दृष्टिसे देखता है। आलोचक साहित्यका दारोग़ा है! माना कि न्यायासन बहुत बड़ा कर्तव्य है—साहित्य, संस्कृति, समाज, विश्व तथा ब्रह्माण्डके प्रति। लेकिन मुश्किल यह है कि वह जितना ऊँचा उत्तरदायित्व सिरपर ले बैठा है अपनेको उतना ही महान् अनुभव करता है। और सच्चा लेखक जितनी बड़ी ज़िम्मेदारी अपने सिरपर ले लेता है स्वयंको उतना अधिक तुच्छ अनुभव करता है। उसे अपनी अक्षमता और आत्म-सीमाका साक्षात् बोध होता रहता है। ऐसा क्यों? इसलिए कि वह अपनी अभिव्यक्तिकी तुलना बीचमें पड़नेवाले केवल वस्तु-सत्यसे ही नहीं करता वरन् अपने स्वयंके साक्षात्कार-सामर्थ्यकी तुलना उस वस्तु-सत्यसे

विशालताके करता है। आत्म-सत्य भी कह सकते हैं उसे जिसकी धारणा
के लिए उसे लगता है कि जितनी आवश्यक मनःस्थिति उसमें चाहिए उतनी
नहीं है। कभी-कभी तो उसे केवल आभास-संकेतसे ही काम चला लेना
पड़ता है। तब अपनी विषय-वस्तुकी विशालता और गहराईकी तुलनामें लेखक
अपनेको हीन क्यों न अनुभव करे, क्योंकि वह खूब जानता है कि उसने
जो कुछ वस्तुतः सम्पन्न किया है उससे भी अच्छा किया जा सकता था।
विषय-वस्तुके प्रति लेखकका यह संवेदनात्मक उत्तरदायित्व उसकी
मन:शक्तिको किस तरह भग किये रखता है, यह किसी सच्चे लेखकसे ही
जाना जा सकता है।

मैंने उस युवक-पाठकके चेहरेके सन्देह भावको देखा और बात पलटनेकी
दृष्टिसे कहा, 'यह जरूर है कि आपकी कहानी बहुत ज्यादा मनो-
वैज्ञानिक थी।

उसने मुसकराकर जवाब दिया, 'मनोवैज्ञानिक न होती तो क्या होती!
मनमें ही घुलते और घुटते रहनेके सिवा और क्या है जिन्दगीमें ?"

मैंने उससे असहमति प्रकट करना चाही। मैंने पूछा, 'तो क्या आप
कुण्ठाको मनोवैज्ञानिकताकी जननी मानते हैं।

कुण्ठा-कुण्ठा मैं नहीं समझता, उसने जवाब दिया, "हर जमानेमें
करोड़ोंकी मुश्किल रही है, हर जमानेमें एक मोचीका दिल नहीं दुखा है —
बहुत निराश लोगोंका 'भारतीय जनताका मेहनतकश वर्ग' यह बाँ
पढ़कर गया पिछला कौन-सा पेशा युग था जिसमें कुण्ठा न रही हो?
—— और फिर—— और फिर——कुण्ठाका मतलब क्या है?' उसने
प्रश्न समझाते हुए कहा, 'कुण्ठाका आधिपत्य तो तब समझना चाहिए जब
कुण्ठाके बुनियादी कारणोंको दूर करनेकी चेष्टा और जिजीविषा न हो। ह
कुण्ठाका अगर क्लिनिकल साइकोलॉजिकल मतलब लिया जाये तो दैनि
जीवनके कष्टापत्तियोंसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। कुण्ठा शब्द फ्रायडवा
और मार्क्सवादकी संकर सन्तान है।

वह दुबला-पतला चेहरा मेरे सामने उठावदार और उभारदार हो गया। उसमें भव्य गरिमा प्रतिबिम्बित हो उठी। मुझे लगा — उसका दिमाग़ खुद-ब-खुद सोचता है। उस व्यक्तिमें मेरी दिलचस्पी ज़्यादा बढ़ गयी। मैं उसके विचारोंको आदर-पूर्वक सुनने लगा।

उसने मुझे बोलनेका अवसर न देते हुए कहा, 'मैं तो सिर्फ़ मेहनत पर, लगातार मेहनतपर, उस मेहनतपर जो अपना पेट भी नहीं भर सकती, उस मेहनतपर जो बहुत उलझन है, उस सहनशील मनपर लिखनेवाला हूँ, उस मनका चित्रण करना चाहता हूँ, जिसका बदला कभी नहीं मिलता और जिसे आये-दिन आत्मविश्वास और त्यागकी नसीहत दी जाती है। मैं उस भयानक मशीनका चित्रण करनेवाली कहानी नहीं, बल्कि उपन्यास लिखनेवाला हूँ, जिसमें हर आदमी वह नहीं है जो वह वस्तुतः है या होना चाहेगा। उसमें मशीनका दोष नहीं। मशीन चलानेवालोंका गुरुतर अपराध है। इस मशीनकी लौह-भ्रमियामें पड़े हुए मानवी मनका मैं चित्रण करना चाहता हूँ। कहिए, आपका क्या ख़याल है?'

मैंने दो-तीन मिनिट तक जैसे साँस ही नहीं ली। उसने भाव-विचारोंसे न केवल मुझे प्रभावित किया था, वरन् दिमाग़पर दबाव डाल दिया था। मेरे सिरपर वज़न हो गया था।

मैंने धीरे-धीरे कहा, 'ज़रूर चित्रण कीजिए, ज़रूर लिखिए।'

'क्यों? लेकिन आप चुप हो गये।'

मैंने कहा, 'चुप नहीं, मैं सोच रहा था कि सिर्फ़ बहुत बड़ी थीम (विषय) उठा लेनेसे काम नहीं चलता। यह ज़रूरी है कि सिर्फ़ उतना ही अंश उठाया जाये जिसका मनपर अत्यधिक आघात हुआ हो। बड़ी भारी बिल्डिंग खड़ी करनेकी बजाय छोटी-सी कुटिया खड़ी की जाये तो अधिक अच्छा होगा।'

उसने कहा, 'सही है। आसमानका चित्रण खुले-आम-सुने मामनेके जैसे सवेरेके सूरजके बिम्बका चित्रण करना चाहिए, शायद यह मेरे जीवन-सूत्र

है अधिक शिष्ट होगा! उतना विनय मुझसे तब भी आएगा।' उस व्यक्तिके इस वचनमें आत्म-दयाकी हल्की-सी गूँज मुझे सुनायी दी।

मैंने देवतासे कहा 'इस आत्मदयाकी ज़रूरत नहीं। एक सच्चे आर्टिस्टका संघर्ष बहुत घुमावदार होता है। हाँ लेकिन आपकी इमेज बहुत अच्छी है। हम सब लोग ऐसे ही करते हैं जो अपने भीतर सुरक्षा प्रतिबिम्ब धारण किये हैं। पूरा वस्तु-सत्य इस इमेजमें आ गया है। इसीलिए वह महत्त्वपूर्ण है। हमारा परिश्रम भी तो थोड़ा नहीं है। हमारी साँस भी तो उखड़ी रहती है। डरते हुए तो मरा हुआ है तो प्रकृति-धन्य!"

एकाएक जैसे मैंने उसकी कमज़ोर रग पकड़ ली। उसमें आत्म-विश्वासकी कमी थी। अब सिर्फ़ सीमा तानकर लोग थोड़ा भाव खा लेते हैं और प्रभावशाली होनेके बहाने हर मामूलीसी ग़ैर-मामूली बनाकर दुनियाके सामने उसे पेश करते हैं तो जो चीज़ सही और सच्ची है वह क्यों न ऐंठे?

मैंने उससे कहा 'आजकल सचाईका सबसे बड़ा दुश्मन असत्य नहीं स्वयं सचाई ही है क्योंकि वह ऐंठती नहीं सज्जनताको साथ लेकर चलती है। आजकलके ज़मानेमें वह है आउट ऑव डेट। थी। इसलिए सत्य चुप सुपुप्त रहे और रहे तभी वह चल सकता है चल सकता है, बिक सकता है।"

वह और भी अप्रतिभ हो गया। किन्तु उसके चेहरेपर भीतरकी सुनीता रोशनी उजागर करनेके लिए मैंने उससे कहा "मोडरनेस ईज़ जीनियस (औसतकी अपनी प्रतिभा है)। यह पेटेका वाक्य है। मैं इसे उलटा करके पढ़ता हूँ।" मेरे कीमती कपड़ोंके अटने मुझे कुछ उत्साहित ही कर ही दिया था (लेकिन क्या मैं सच कह रहा हूँ?) यों ही हम दोनों जब विदा हुए, बहुत दोस्त बनकर विदा हुए।



हाशियेपर कुछ नोट्स

बहुत समय तक मैं कलम लिये बैठा रहा। विमूढ़ और खोया-खोया सा। समझमें नहीं आया कि क्या करूँ। क्या लिखूँ और लिखनेके पहले क्या सोचूँ।

ज़रा इस परिस्थितिपर गौर फ़रमाइये। यह एक अजीब चीज़ है। ऐसे क्या लिखना है, यह मालूम है। लेकिन वह कलमसे उतरता नहीं। कमरेके दरवाज़ेसे गुज़रते हुए व्यक्ति अन्दर दीख पड़ते हैं। किन्तु भीतर आनेका साहस नहीं करते। भीतरवाले उन्हें अन्दर बुलाते नहीं शायद उन्हें कमरेमें न आना हो तो! उसी प्रकार विचार कमरेके दरवाज़ेसे झाँक जाते हैं अन्दर क्या है यह अन्दाज़से टटोल जाते हैं, लेकिन भीतर आना या तो पसन्द नहीं करते या उन्हें वैसा साहस नहीं होता। मैं भी उन बाहियात विचारोंको अन्दर आनेका विशेष आमन्त्रण नहीं देता।

किन्तु उन विचारोंकी मुद्रायें देखकर मुझे एक गये-गुज़रे ज़मानेकी याद आ गयी जब मैं कालेजका एक लड़का था। तब एक महान् व्यक्तिसे मेरा स्नेह हो गया। वह सचमुचका था या भूलभूल था मैं नहीं कह सकता। लेकिन यह सही है कि मेरे दिमाग़में एक ख़याली नदीसी धुन्ध जमी रहती।

अब होते-हुआते एक बात यों पैदा हुई कि उसने मुझे काफ़ी उलझनमें डाल दिया। वह यह कि उसके व्यक्तित्वकी चन्द बातें कुछ ख़यालात कुछ रवैयात कुछ तर्ज़-अन्दाज़ कुछ तौर-तरीक़े मुझे पसन्द नहीं आये।

जहाँतक दूसरे व्यक्तियोंका प्रश्न है मैंने यह कभी नहीं चाहा कि मैं अपनी पसन्दगीको एक मान-दण्ड या फ़ैसला उन पर प्रदान करूँ।

पसन्दगीको मैं कसौटी नहीं मानता। उसे कसौटीका रूप देनेकी मुझे न तब इच्छा थी, न अब।

दूसरे शब्दोंमें, क्या मैं अपनी प्रतिक्रियाओंकी सहीपनपर विश्वास करके उस व्यक्तिको दो-पैनी आँखोंसे देखते हुए, व्यक्तित्वका विश्लेषण करके विश्लेषित अंशोंको पुनः एक बार इकट्ठा कर उन्हें विरूपकी एक नये पैटर्नमें नये ढाँचेमें ढाल दूँ या शब्दोंकी भाँति उस छायाको उद्धारक आत्माके रूप-में [illegible] बनाकर जगमगाते हुए, नायक रूपमें उपस्थित करते हुए स्वयं स्वर्ग और नरककी हवा खाता रहूँ। संक्षेपमें, मैं आलोचनात्मक भावनाको प्रधान मान किसी तटस्थ बौद्धिक टीलेपर खड़े होकर दुनियाको देखूँ या स्नेहके भीतर पाये जानेवाले सहज विश्वासको किसी विशाल श्रद्धाका रूप देकर जीवनकी परम उपलब्धिको प्राप्त करूँ।

आजसे कई साल पहले मेरे एक मित्रने यह प्रश्न उठाया था। भावना में निश्चय ही एक सूक्ष्म बुद्धि होती है। और, मैं समझता हूँ, वह बुद्धि उस मित्रमें थी। बुझे हुए ज्वालामुखियोंवाले व्यक्तित्व कीर्तिकी पेंशन लेते हुए भले ही अपनेको धन्य मानते रहें, छोटी-सी एक सजग चिनगारी उन बुझे ज्वालामुखों से निस्सन्देह बड़ी ही है, हाँ, वह उन्हें चुनौती भी देती है। तो उस मित्रने उस भव्य किन्तु बुझे ज्वालामुखीका एक ऐसा विद्रूप चित्रण किया कि मैं हैरतमें रह गया।

मैंने उससे कहा, 'तुम्हारे भावोंसे लगता है तुम उन्हें बहुत चाहते हो।'

उसने कहा, 'बिलकुल। यही मेरी मुश्किल है। चूँकि मेरा ख़याल है कि मैं उनके व्यक्तित्वके हर एक पहलूको सहज भावसे पहचान जाता हूँ, इसलिए उनपर मुझे अधिकार जतानेकी भावना होती है। यह निराधार है। उस व्यक्तिमें कुछ ऐसा चमत्कार, कुछ ऐसा सम्मोह और कुछ इतनी ऊष्मा है कि मन उनके चारों ओर मँडराता है। लगता है कि बस हमेशा उनके साथ रहा जाये और कोई ऐसी

विशेषतः बात न की जाये जो हमारे सम्बन्धोंमें खोल डालती हो। मन करता है कि उनका कोई बड़ा काम कर लिया जाये अपने हाथसे उनके लिए कुछ तो अच्छा हो।

लेकिन इस भावनाके बावजूद मन उनका होकर नहीं रह सकता। इसलिए कि आकर्षणकी किरण चतुर्दिक प्रसारित होते हुए भी उस व्यक्तिके भीतर ऐसा कुछ है जिसे आप 'खोट' कह सकते हैं। वह सारल्य और भोलापन तो उनमें है ही नहीं, इसके विपरीत हर इच्छित कार्य या बातको न्यायोचित ठहरानेके लिए भाव-विचारोंका मायावी इन्द्रजाल तानना उनका कुछ इतना बड़ा भारा है कि लगता है कि उसके आसपास या तमाम मित्र-मण्डली जमा रहती है वह उसकी सक्रिय करतालीके सिवा कुछ नहीं करती। और वह करताली काहेकी?

एक नितान्त प्रतिक्रियावादी राजनीतिकी एक अत्यन्त कठोर स्वार्थ की एक विलासवत् भावकी — जिसका सम्बन्ध सिर्फ मैं से है!

मेरे मित्रके चेहरेसे पता चलता था कि वह उस व्यक्तिकी बहुत-सी अन्दरूनी बातें जानता है। बहुत-से ऐसे विचित्र तथ्य उसके पास हैं जिन्हें वह कभी ज़बानपर भी नहीं ला सकता। लेकिन फिर भी उस व्यक्तिको वह इतना चाहता है कि अगर वह उसकी तारीफ़ करनेपर उतर आये तो एक मर्मी कविकी भाँति वह पूरा व्यक्तित्व चित्र प्रस्तुत कर देगा। स्पष्ट है कि सामने बैठे हुए मेरे मित्रमें एक ऐम्बीवेलेन्स एक दुमुँहापन है! उसने जिससे अत्यन्त हार्दिक रूपसे चाहा है उसीका परित्याग करनेपर वह मजबूर हुआ है। इस ऐम्बीवेलेन्सके शिकार दिन काफ़ी लोग देखे हैं। वे एक ही व्यक्तिसे तीव्र घृणा और तीव्र स्नेह एक साथ करते हैं। उनकी घृणा और स्नेह — दोनोंमें एक घनिष्ठता है। किन्तु यह घनिष्ठता भी इतनी तीव्र होती है कि एक दूसरेके प्रति विरागका उपचार ओढ़नेके लिए मजबूर रहता है।

इस समय मेरे मित्रका चेहरा कटु और कठोर हो रहा था। मुझे यह

साहस ही नहीं हुआ कि मैं उसके पिताका नाम-धाम पूछूँ। वे उसके परम भक्त हैं। वह उन्हें जान मार सकता है, मैं नहीं।

किन्तु इतना सही है कि श्रद्धेयकी आलोचना करना भारतीय संस्कारके इतने विपरीत है कि कुछ मत पूछिए। हम अपने मनकी सज्जनताको लेखकके आलोचकसे अधिक प्रतिष्ठित बनाये रखते हैं। यह कितनी बड़ी आत्म वंचना है! इस आत्मवंचनाका कोई पार नहीं।

किन्तु यह बात बहुत ही महत्त्वपूर्ण है कि आलोचना हमेशा तटस्थ और निष्पक्ष नहीं हुआ करती। वह अक्सर दृष्टिकी बजाय मात्र एक भावना भर होती है, और जिसका कीमियापर उस भावनापर बनावटी धौंस जड़ देता है। उसकी कीमियागरी इतनी भयानक होती है कि वह हमारी सूरत बन्दर जैसी बना देती है जब कि हम खुद अपनी इस समझकी गिरफ्तमें रहते हैं कि हमारा चेहरा बहुत खूबसूरत है। मतलब यह कि मेरा खयाल है कि अन्धी श्रद्धासे अन्धी आलोचना एक भयंकर चीज है।

यह खयाल बिलकुल गलत है कि आलोचनाका सम्बन्ध बुद्धिसे और श्रद्धाका हृदयसे होता है। मानसशास्त्रपर लोगोंकी श्रद्धा हृदयसे नहीं बुद्धिसे उत्पन्न हुई है। और उसी मानसशास्त्रसे बहुतेरी आलोचना अन्धी भावनासे प्रेरित हुई है। किन्तु इस सिलसिलेमें मैं यह भी कहूँ कि किसी भी व्यक्तिपर एकात्म श्रद्धा सम्भव है। चाहे वे अपने माता हों या पिता। पहले वे मनुष्य हैं उनका अपना चरित्र है। इस चरित्रको देखनेके लिए आवश्यक निर्मम तटस्थ भाव हममें चाहिए।

मैंने उसके सामने ये बातें रखीं तो उसने दुःखी होकर मेरी तरफ देखा। उसने बताया कि हृदयका व्यापार सभी जगह है। युद्ध ऑपरेशन थियेटर और प्रेम-प्रसंग — इन सभी जगह उसके सम्बन्ध हैं।

इस समस्याको जरा आप समझिए। इस पूरे प्रसंगके पीछे एक विशेष प्रकारकी भावुकता है। इसे आप दार्शनिक भावुकता कह सकते हैं। मैं उस व्यक्तिमें व्यक्ति नहीं किसी गुण-शक्ति या सत्ताका दर्शन कर रहा

है इसीसे वह व्यक्ति मुझे प्रिय है। किन्तु ज्यों ही उस गुण-दशाको मैं खण्डित होते देखूँगा मैं उस व्यक्तिको छोड़ दूँगा और उस व्यक्तिको यह समझमें ही नहीं आयेगा कि फलाँ-फलाँने, जो अबतक मेरा भक्त था मेरे यहाँ आना क्यों छोड़ दिया।

उसने कहा मैं मानता हूँ कि यह एक सब्जेक्टिव आत्मग्रस्त रवैया है। किन्तु वह कितना खूबसूरत है! मित्रके व्यक्तित्वमें गुणोंकी अपेक्षा किये बिना मैं कैसे रह सकता हूँ? उसमें उन गुणोंका जो पूरा मनोहर समुदाय है। वह यदि न हो तो बताइए मित्रता मोहित कैसे हो? उसमें वह ललक कैसे पैदा हो? यदि एक दूसरेमें गुणोंकी अपेक्षा न रहे तो मित्रता रह नहीं सकती — और चाहे जो हो। एक विशेष प्रकारके स्नेह का नाम मित्रता है। वह अपने प्रियके पूरे व्यक्तित्वके आकलन-ग्रहणपर टिकी हुई है। मैं उस दोस्तीको बात नहीं कर रहा हूँ जिसे आप सिर्फ सामाजिक अर्थमें लेते हैं।

मैंने कहा, यह सब सही है। लेकिन भय तो यह है कि कहीं उसके गुणोंके आकलनकी आड़में अपनी पसन्दगी तो उस व्यक्तिपर नहीं थोप रहे हैं। मानव-स्वभावका ताना-बाना बहुत गहरा और सूक्ष्म होता है। हमें उस स्वभावका सिर्फ विश्लेषण करके छोड़ देना चाहिए। यदि वह विश्लेषण हमारे अनुकूल न निकले तो दुखी होनेकी जरूरत नहीं और सचमुच अनुकूल निकले तो बात ही क्या है! वाह-वाह!

मित्रने कहा 'यह बात हम नहीं मानते। यदि हमारे हृदयके सम्बन्ध हैं तो हम उनके आधारपर इतना तो कहते ही कि तुम्हारी फलाँ बात पसन्द नहीं और फलाँ बात पसन्द है और हम चाहते हैं जो बातें हमें नागवार हैं तुममें वह हों ही नहीं। अगर किसी पराये आदमीके सम्बन्धमें यह बात होती तो बात अलग थी।

मैंने कहा 'यह तो ठीक है। किन्तु जो मित्र आपके श्रद्धेय हैं उनसे दूरी तो आप बनाये रखते ही हैं। एक ओर स्नेह और दूसरी ओर दूरी

थी। इस संकटमें सब गड़बड़झाला हो जाता है।

उसने खुश होकर कहा, 'अब तुमने मसलेपर हाथ रखा। निजके घनिष्ठ सम्पर्कके अलावा उससे जो हमने दूरी क़ायम करके रखी है तो उसी दूरीके धूसर जंगलमें सब पाप-छायाएँ इकट्ठी हो जाती हैं। ठीक है न ये?'

मैंने कहा, 'बिलकुल ठीक है। अगर एक व्यक्तिकी हम आलोचना करते हैं तो पहले उसे अपने घनिष्ठ विश्वासमें लेकर फिर उसे धीरे धीरे उस मोड़की तरफ़ ले जाना चाहिए जहाँ हमें अपने विश्वासकी बात करनी है।

मैंने कहा, 'सभी आलोचना चाहे जितनी निर्मम और बेलाग दिखती हो, अन्ततः चाहे जितनी कठोर और खुरदुरी हो, मगर उसमें एक बड़ी भारी श्रद्धा होती है, और वह कि मनुष्यमें सुधार किया जा सकता है, यह कि मनुष्य अपनी सीमाओं और कमज़ोरियोंके ऊपर उठ सकता है, वह ऊपर उठकर उस विशाल उच्चतर क्षेत्रका भागी हो सकता है जिसे हम संस्कृति, विज्ञान, साहित्य या दर्शन अथवा अध्यात्मका क्षेत्र कहते हैं। यह श्रद्धा व्यक्ति-विशेषपर श्रद्धा नहीं है, किन्तु उसके मनुष्यत्व या मानव सामर्थ्यपर श्रद्धा है, कि यदि वह चाहे तो अपने कन्धोंपर ही चढ़ सकता है। मतलब यह कि इस बुनियादी श्रद्धाके फलस्वरूप इतना सारा साहित्य लिखा गया है।'

मेरे मित्रने विस्मय और संशय दोनोंके समन्वित भावसे मेरी तरफ़ देखा और कहा, 'ये सब किताबोंकी बातें हैं, अपनी जगह सही हैं। किन्तु उनका महत्त्व तो व्यवहारमें, कामोंमें ही है। और व्यवहारमें आने जानेकी प्रक्रियामें अमलमें लानेवालेकी सारी बुराइयाँ, सीमाएँ और कमज़ोरियाँ इतनी अधिक प्रकट होती हैं कि कार्यमें कर्ताकी बारबार ख़याल जिसके प्रति न्याय किया गया है, वह व्यक्ति चौकन्ना रहता है। वह व्यक्ति उस आलोचनापर फिर विश्वास नहीं कर पाता।

इस बातको सुनकर हम दोनोंको हँसी आ गयी। बात बिलकुल मालूम है। आलोचनाका कार्य वस्तुतः सिद्धान्तोंके प्रकाशके अलावा एक सूक्ष्म कौशल भी है। मैंने उससे कहा — इसीलिए कहता हूँ कि हम आलोचना करते वक्त गलतियोंके लिए कम-से कम पच्चीस-तीस प्रतिशत हाशिया छोड़ दें — अगर हम 'है' के बदले 'हो सकता है', 'सम्भव है', 'कदाचित् यह भी हो' इस तौरसे बात करें और मानवज्ञान और अपने स्वयंके ज्ञानकी साक्षात् सीमाएँ प्रत्यक्ष ध्यानमें रख उतना मार्जिन अपनेको और दूसरोंको प्रदान करें, तो बहुतेरे हृदय-दाह समाप्त हो जायें और हार्दिक तथा वैचारिक आदान प्रदान अधिक सुगम या सरल हो। क्या मैं गलत कह रहा हूँ?

मैंने अपने मित्रकी आँखोंकी तरफ़ देखा। मुझे लगा कि वह मुझसे सहमत है।



सड़कको लेकर एक बातचीत

इन्दौरमें मेरे घरके पड़ोसमें नीमका ऐसा विशाल शतमुख वृक्ष था जिसपर हजारों कौए बैठे रहते। सुबह आँख खुलते ही कौओंकी विविध काँव-काँव कानोंमें समा जाती। शामको जब आसमानकी लाली डूबने लगती तो उनकी पुकारमें एक अजीब उदास लेकी आ जाती लगता कि मनके भीतर जो बहुत-कुछ दबा है वह सम्मिलित अस्पष्ट बोधक कर्कश घन-स्वरोंमें बाहर एकदम निकला चाहता है।

इन दिनों मेरी हालत अलमस्त नहीं है। फ़क़त इतना ही है कि मैं कुछ भिन्न बात कहना चाहता हूँ चूँकि मैं कौआ नहीं हूँ। जो नहीं कहा गया है वह शामको घर लौटते वक़्त दिमागकी दीवारोंसे टकरा-टकरा जाता है।

विचारोंमें एक विचित्र प्रकारकी उत्तेजना होती है। इस उत्तेजनाको यदि पी लिया जाय तो वह दिलको तकलीफ़ देती है। मैंने लिख डालनेकी भी बहुतेरी कोशिश की। लेकिन जितना बात इतनी तीव्रता-पूर्वक अपनी शाखा-प्रशाखाएँ विकसित करती जाती है, उन्हें फैलाती जाती है कि मुश्किलोंका सामना करना पड़ता है। उसके विस्तार विकासकी गतिके साथ-साथ आत्मस्थापीन मनकी गति बराबर बनाये रखना बहुत कठिन हो जाता है। यह मामूली अनुभव नहीं है।

लेकिन इतनेमें मेरे एक मित्र आ ही गये। उन्होंने जो कुछ मैं हूँ उससे पिण्ड छुड़ानेका काम किया।

मैंने मुस्कराकर कहा "बड़ा अच्छा हुआ आप आ गये। कुशल तो है?

उन्होंने जवाब दिया 'मेरी रचना वापिस आ गयी।'

मेरे माथेपर बल थे। मैंने चिन्तित होकर पूछा ऐसा क्यों?

उन्होंने कागज सामने रख दिया। सम्पादक महोदयने कुछ पंक्तियाँ निकाल देनेका आदेश दिया था। रचना बहुत अच्छी थी। वे खूब तारीफ कर गये थे। उन्होंने हा माँगी थी इसलिए भेज भी दी गयी। सम्पादक सज्जन साहित्य-कलाके एक नेता भी हैं। उनकी बातमें एक वजन है। व गम्भीर व्यक्ति हैं। कलाका मम समझते हैं। नवयुवकोंको प्रोत्साहन देनेकी दृष्टि नहीं वरन् नयी प्रभावकी मौलिकता और सूझबूझके कायल होनेके कारण वे नयी प्रवृत्तियोंमें रुचि भी बहुत अधिक रखते हैं।

उनके विचार मुझे नहीं जमते। किन्तु फिर भी व मेरे लिए और मेरे मित्रके लिए आदरणीय हैं। यदि विचारोंमें मेरा उनसे मतभेद हो जाता तो वह विस्मयनीय बात न होती। वह स्वाभाविक ही था।

मैंने विषय बदल दिया है। मन जैसे कहीं अनावश्यक रूपसे पूछ रहा था।

किन्तु मेरे मित्र अजीब आदमी थे। एक अरसेसे मैं यह सोच रहा था कि उन्हें चोट है। फ़िजूल मिलते रहनेकी तरह आदत थी। पहले-पहले मुझे मालूम हुआ कि वे अच्छे आये। जरा घमण्ड रहेगा। लेकिन जब उन्होंने अपनी नयी कविताकी दुर्घटना बतायी तो उनपर मैं ज्यादा क्षुब्ध हुआ। यह सही है कि वे बहुत अच्छा लिखते हैं। उनके साथ मज़ा यह है कि वे साहित्यिक दुनियामें रात-दिन रहना चाहते हैं। मेरा स्वभाव या सिद्धान्त या प्रवृत्ति कुछ ऐसी है (मेरे नयापनसे भी शायद सही भी है) कि जो व्यक्ति साहित्यिक दुनियासे जितना दूर रहेगा उसमें अच्छा साहित्यिक बननेकी सम्भावना उतनी ही ज्यादा बढ़ जायेगी। साहित्यके लिए साहित्यसे निर्वासन आवश्यक है।

वे सज्जन साहित्यिक दुनियाकी सब खबरें मुझे बतौर दे जाया करते हैं। उनकी लम्बी चौड़ी शब्दो-विज्ञापन है। उनके परिश्रमके प्रति सराहना

का भाव भी मुझमें है, क्योंकि मैं — वैसा नहीं कर सकता। न मालूम कितनी ही बांकपन और छल बातें मुझसे नहीं हो पातीं।

मेरी वेशभूषाका मजा लेते हुए वह मेरा यार बोला — नहीं आपकी बड़ी तारीफ़ हो रही थी।

मैंने मनमें उससे कहा — कहाँ-कहाँ? बोलो-बोलो, जल्दी कह डालो। प्रकाश्य उससे कहा, 'क्यों, क्या बात है?'

उसने गम्भीरतापूर्वक जवाब दिया — 'नहीं, आपकी यह बात बहुत पसन्द आयी।'

मेरे मुँहसे सिर्फ़ इतना निकला — सच?

अपना भाव तथा भावनाओंको मुझे आदत है। यह मेरी बौद्धिक संस्कृति है। इसकी दो विशेषताएँ हैं। एक — भीतर-ही भीतर दूसरोंकी कुत्सा अवमानना करना। दूसरी — हमेशा अविश्वास लेकर चलना, संशयात्मा बने रहना। दोनों बातें बड़ी अच्छी हैं। वे मुझ दूसरोंसे अछूता छोड़ देती हैं, असम्पृक्त, अलग और निर्लिप्त। इससे बहुत-सी सामाजिक तकलीफ़ें बच जाती हैं। किन्तु इसमें एक आत्म-विरोध भी है। यह निःसंगता बादमें ही अखरने लगती है। मन चाहता है कि संगी-साथी रहूँ। मन उनमें घुले-मिले। कायम प्रशान्त हो। मस्ती रहे। नशा रहे। यह संयमस्त जीवन किस कामका?

अपने द्वारा तैयार की गयी यह निःसंगता दुधारी तलवार है। यह स्वयंपर चोट करती है। किन्तु मजा यह है कि सब कुछ जानने-बूझनेके बाद भी निःसंगता भी साथ रहती और उसे दूर करनेकी कोशिश भी।

अब आप समझ गये होंगे कि मैं अपने इन अप्रशंसनीय मित्रको अपने साथ क्यों हिलगाये रहता हूँ। लेकिन जब उससे मेरी तारीफ़की घटना सुनायी तो मेरी उदासी भाग गयी। लगा कि मुझे पहचाननेवाले लोग भी मौजूद हैं।

लेकिन मेरा दोस्त पहले दर्जेका पाजी था। उसकी बातोंसे पता

जान गया कि वह उसकी एक खूबसूरत किंवदन्ती थी। फिर भी मैं खुश हो गया। उसे मेरी इतनी फ़िक्र तो है कि मुझे गम्भीर देखकर वह हँसाना चाहता है, मुझे दरवाजेसे बाहर निकालना चाहता है।

और, फिर, अकस्मात् अपने मुँहपर आ गया मेरा दोस्त।

उसने मुझसे पूछा 'जो कुछ आजकल चल रहा है नयी कविताके सम्बन्धमें उसमें अभिरुचिका भी एक 'रोल' है। है न?

वह जाने हुए तक सही कह रहा था। कविताके क्षेत्रके स्टेजमें (यदि उसे स्टेज कहा जाय तो) भावों आवेगके साथ किन्तु साफ़-साफ़ कह दी गयी थीं। उस मंचके पृष्ठ भाग रूपकमें कही गयी थी। अन्त भी एक रूपकसे किया गया था। दोनों रूपक अच्छे थे। किन्तु मध्यके स्टेजमें भावनात्मक सूक्ष्मतर आवेगके साथ प्रकट होना शुरू कर दिया। घुमे-फुल दूर भरे मरम पठार-सा वह अंश न केवल बहुत अच्छा था वरन् सही भी था।

समाजमें पायी जानेवाली कुछ अवसरवादी प्रवृत्तियोंपर उसमें गहरी चोट की गयी थी।

यह कविता यहीं कमज़ोर हो गयी!

अब इसके साथ-साथ एक तथ्य और लीजिए। मेरे एक परम प्रिय मित्रने 'आयरस' में एक लेख लिखते हुए घोषणा की थी कि नयी कवितामें हृदयके आवेगके आवेगात्मक बिम्ब ओज और आवेशका विशेष स्थान नहीं है। हो सकता है कि आधुनिक कविता गहरी न मालूम हो। किन्तु वास्तविकता यही है कि उसमें आवेगको स्थान नहीं। आजकी कविता बौद्धिक और आत्मीय है।

"इस वास्तविकताको मैं स्वीकार कर सकता हूँ। किन्तु उसे मैं परिवर्तित कथन करना चाहता हूँ। मैंने अपने सामने बैठे हुए मित्र से कहा।

और, स्वयं कुछ उद्विग्न होकर बोला, "इस आवेशको काट देनेका खास मतलब है।

मित्रने कहा, 'बिलकुल' यह कहता गया, 'जहाँ आवेश स्वभावतः नहीं है, वहाँ आवेश या आवेश छाया बिलकुल गलत है। पुरानी कविता यही किया करती थी। किन्तु जिन्दगीमें तो आवेश है, आवेग, उद्वेग, चिन्ता और क्षोभ है। वे उसे निकाल देनेवाले कौन होते हैं?'

मैं सिर्फ मुसकराया। बादमें मैंने कहा, 'पहली बात — नयी कविता आधुनिक भाव-बोधपर चलती है। स्वीकार है हमें। यही यह मान्यता है कि सबका आधुनिक भाव-बोध समान है। किन्तु यह दुर्घटना सूचित करती है कि आधुनिक भाव-बोधमें वह हिस्सा शामिल नहीं है जो आवेश-मूलक है। भाव-बोध करनेवाली वृत्तियाँ इतनी भिन्न भी हो सकती हैं और होती हैं कि अभिरुचि भी भिन्न-भिन्न हो जाती है। नयी कविता सम्बन्धी एक अभिरुचि मात्र 'तथ्य' सह सकती है, लेकिन 'आवेश-तथ्य' नहीं। दूसरी अभिरुचि नयी कविताका विश्वास अपनाते हुए भी आवेश-यथार्थको यथार्थकी संवेदनाके रूपमें प्रस्तुत करना चाहती है — इसलिए कि जिन्दगीमें वैसी परिस्थितियाँ हैं।

मेरी ही बातको उसने और अच्छे ढंगसे कहना चाहा। उसने कहा, "यह आवेश जिसमें एक तड़प पैदा करता है, एक फड़फड़ाहट भर देता है। इसलिए यह जमता नहीं। ऐसे आवेशको निकाल फेंको। इसलिए कि यह आवेग प्रतीकात्मक रूपसे प्रकट नहीं किया गया है। यदि वैसा होता तो ग्रहणीय हो जाता। सम्पादकको लगा कि यह आवेश व्यक्ति सम्बद्ध है, व्यक्तिगत है, आत्मीय नहीं। लेकिन उसे ऐसा क्यों लगा?"

मैंने उसे जवाब दिया, "इसलिए कि वह बौद्धिक रूपसे भद्र नहीं है। इसमें निर्णायक बात बौद्धिकता नहीं अखरता है। (कवितामें किसी शास्त्रीय प्रयोग नहीं किया गया था या कोई अजब शैली अपनायी नहीं गयी थी) यह भावना किसी प्रयोगकी नहीं है वरन् यह बड़ी रागमयतामिश्रीके

कुलीन मध्य वर्गसमर्थोंकी सभ्यताके कॉम्प्लेक्सेस पेश करती हैं। ये बड़ी बड़ी प्रान्तीय राजधानियाँ अब दिल्ली-जैसे बड़े-कैपिटलमें समा रही हैं। इससे शहरोंकी तरफ़ खिंचते आ रहे हैं।

उसको यह बात कुछ तो समझमें आयी और कुछ नहीं। उसने सिर्फ़ 'हाँ-हाँ' कहा।

मैंने अपनी बातका स्पष्टीकरण करते हुए कहा 'नयी कवितामें दो तबके काम कर रहे हैं। एक वे जो खाते-पीते वर्गके सुशिक्षित लोग हैं। इन्हें खूब अच्छी फ़ुरसत है। उसका वे सदुपयोग भी करते हैं। उन्हें महत्त्वपूर्ण पुस्तकें सुलभ हैं। वे कला-कुशल भी हैं। इसके अलावा उनमें-से बहुतेरोंमें वैज्ञानिक दृष्टि भी है।

'तुम शहरके या कस्बेके पढ़े-लिखे ग़रीब लोग हो। तुम्हारी परिस्थितियोंमें जीवनका मानवीय यथार्थ रसात्मक है। तुम एक यन्त्रचक्रमें पिस रहे हो। वहाँ फँसी हुई हालतमें तुम मानव-सम्बन्धका साक्षात्कार करते हो। तुममें क्षोभ और क्षोभपूर्ण यथार्थके अंकनके प्रति आवश्यक प्रति आग्रह होना स्वाभाविक है। उनमें इस आग्रहको अच्छी निगाहसे नहीं देखा जाता। तुम्हारे अपने यथार्थमें तुम न्यायपूर्ण संशोधन चाहते हो। उनके लिए यह कार्य उनके जीवन-सन्दर्भसे रहित है। अपनेको पीसनेवाली परिस्थितियों और प्रवृत्तियोंको उनके नंगे पाशविक रंगमें पेश मत करो। यह कला नहीं है।

'क्या वे ऐसा खुलकर कहेंगे? हरगिज़ नहीं। वे खूब चौकन्ने तो हैं कि सबके झंडेके मालिक बनें। किन्तु वे नयी कविताके विकासके सम्बन्ध में जो अभिरुचि बनाते हैं वह ऊपर ऊपरसे निर्दोष होते हुए भी उसका प्रभाव वे इस प्रकार करते हैं कि उपहासपूर्वक आलोचनात्मक कम व्यापक भावना रिप्रेज़ेन्टेशन न बन पावे—वह अधूरा छाप हो बनी रहे।

'अभिरुचिके संस्कारका ठेका उन्होंने ही नहीं लिया है। अगर चाहो तो इसे तुम भी खूब अच्छा निखार सकते हो। किन्तु उनकी कला

कुशलताकी उपेक्षा करना या उसपर अपना स्वत्वका अधिकार न करना ग़लत है।

मेरे इस प्रवेश-वाक्यांशको मेरा मित्र ध्यानपूर्वक सुनता रहा। उसने सिर्फ़ इतना ही कहा "हाँ आपने मेरे दिलकी बात कह दी।

किन्तु वह और भी आगे गया।

उसने मुझसे जो कुछ कहा वह मेरे लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उन बातोंको मैं अपने शब्दोंमें रख रहा हूँ

"काव्य-सत्य भावना प्रसूत है किन्तु उस काव्य-सत्यका नैतिक उत्तरदायित्व है। हम उसे केवल काव्य-सत्य कहकर नहीं टाल सकते। वह सत्य हमारे व्यक्तित्वसे कुछ माँग करता है।

मैंने जवाब दिया "हाँ जो गुड़ नाट देकर ज़हर कौन चखाता! हम यदि ग़रीब मध्यवर्गमें पैदा हुए हैं तो हम उसकी भावस्थितियोंको ज़रूर बतायेंगे। प्रश्न विषयका भी है और दृष्टिकोणका भी। हममें-से बहुतेरे, ऊपरकी श्रेणीमें मिल गये हैं। वे हमारी भावनाएँ प्रकट नहीं करते कोई दूसरी दृष्टि प्रकट करना चाहते हैं।

वह मुसकुराया और शायद उसकी आँखोंके सामने वे ऐसे साहित्यिकोंके दृश्य खिंचे जो स्वयं बहुत ग़रीब घरानेमें ही पैदा हुए थे किन्तु अब वे काफ़ी अग्र-भागी उच्चीय घराने होकर न उनकी श्रेणीकी उपलब्धियोंके वास्तविक चित्रणोंमें रम सके न अपने बन्धु-बान्धवोंकी पीड़ा-भरी विवेक-दृष्टि ही अपना सके।



एक मित्रकी पत्नीका प्रश्न-चिह्न

अगर आप मुझे सच कहनेकी इजाजत दें तो मैं आपसे यह निवेदन करना चाहूँगा कि व्यक्तियोंसे मेरा सम्बन्ध बहुत अजीब किस्मका है। इसका कारण यह है कि व्यक्तित्वका जो विश्लेषण मनमें अपने तईं कर रखा है उसका उस विश्लेषणसे कोई सम्बन्ध नहीं है जो मैंने उस व्यक्तिसे बचनेके लिए अपने लिए तैयार रखा है। मसलन हमारे एक दोस्त हैं। बहुत साधारण व्यक्ति हैं लेकिन अगर आप उनका विश्लेषण करते जायें तो न केवल असाधारण प्रतीत नहीं होंगे वरन् उनमें आपको दिलचस्पी भी बढ़ती जायेगी — एक गहरी वैज्ञानिक दिलचस्पी ! हाँ उनके बारेमें सच्ची और सही रायके लिए यह जरूरी है कि उनके प्रति देखनेकी आपकी दृष्टिमें कोई सूक्ष्मसे सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक स्वार्थ भी न हो। लेकिन मुझमें तो बहुतेरे सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक स्वार्थ हैं। इसलिए मैं एक विश्लेषण तो ऐसा तैयार करता हूँ जिसका अन्तिम उद्देश्य केवल अपनी आत्मरक्षा तथा उसके सम्बन्धमें अपनी दृढ़ताको और मजबूत करना है। मैंने जिन मित्रका जिक्र किया मुझे मालूम है कि अमुक समय अमुक अवसरपर, अमुक प्रकारसे वे मेरे हननके इच्छुक होंगे — यानी कि मुझे किसी-न-किसी गहरी उलझनमें डालेंगे।

उन मित्र महोदयने मुझे एक जमानेमें बड़ी गहरी मदद की है। वे मेरे संकटमोचक रहे हैं। उन्होंने जो मेरी मदद की वह हस्तामलकवत् थी हाथका मैल थी यद्यपि वह मेरे तईं महान् सहायताके रूपमें ही आयी। मुझे यह सहायता प्रदान करनेकी वजहसे उन्हें तकलीफ तो कुछ हुई ही नहीं

असुविधाका तो सवाल ही नहीं उठता। लेकिन अब व (मान लीजिए) मुझे दी गयी इस सहायताके फलस्वरूप मुझपर अधिकार तो क्या एकाधिकार मानते मुझे ऐसे सुझाव (मेरे लिए वे आदेश हैं) दे रहे हैं जिन्हें समझते आना मेरे लिए बहुत ही नामुमकिन है। वे कह रहे हैं कि मैं साल भर, उनके साथ उनके घरपर रहूँ। इसका मतलब यह हुआ कि मैं उनकी मुसाहिबी करूँ! बस उनके दरबारमें डटा रहूँ। उन्हें मेरे समय की कोई क़ीमत नहीं है। कहनेको तो उन्होंने यह कहकर रक्खा है कि मुझे उनकी बीबीको लॉजिक पढ़ाना होगा। पहली बात तो यह है कि उनकी बीबी कभी कोई लॉजिक पढ़ नहीं सकती। वे इस्लामिककी सीधी-सादी मुसकुराहट हैं! असलमें मेरा पेशा यह होनेवाला है कि मैं न सिर्फ़ पतिदेवकी वरन् पत्नी-महोदयाकी भी हृदय-गाथाएँ सुना करूँ! 'हृदयकी गाथाएँ' एक ऐसा शब्द-समूह है कि रातमें डरकर नींदसे उठ बैठता हूँ। इसका कारण है। यह दम्पति सारी बातोंमें एकदम व्यावहारिक है लेकिन मेरे प्रति आवश्यकतासे अधिक भावुक है। मैं आया कि उन्हें ऐसा लगता है जैसे मिठाईका थाल आ गया हो। उनके लिये मैं बहुत सीधा-सादा बहुत भला-भोला (यानी कमनीय रूपसे निर्बुद्ध — मूर्ख अपनको कैसे कहूँ) हूँ। बस यही मेरी सबसे बड़ी विशेषता है। अब उन्हें कैसे कहूँ कि मैं उनसे बचनेके लिए कई तरकीबमें चलता हूँ, कई बातों एक साथ चला जाता हूँ! मैं वस्तुतः उनसे घृणा करता हूँ क्योंकि उनके प्यारमें एक नाटकीयता है एक मनपोर आत्म बड़ भाव। स्पष्ट है कि उनकी बीबीको लॉजिक क्या पढ़ाऊँगा जब उन्हें देखते ही मेरे सरपर भी इस्लामिक सवार हो जाता है मुझमें न मालूम कैसी विरक्तिकी सिलकी आने लगती है!

मैं उनसे एकदम दूर और बहुत दूर निकल भागना चाहता हूँ। लेकिन जबतक मैं इस शहरमें हूँ यह असम्भव है। फिर मैं यह सोचने लगता हूँ कि आखिर वे मुझे इतना चाहते हैं तो इसमें उनका क्या दोष है! वे अपनी 'हृदयकी गाथाएँ' मुझे नहीं सुनायेंगे तो और किसे सुनायेंगे। यह

मेरी महान् मर्द-वृत्ति है कि मैं उनको टालना चाहता हूँ और अपने इस मनोवैज्ञानिक स्वार्थसे प्रेरित होकर मैं उनका विश्लेषण करने लगता हूँ। यह ग़लत है। यह असंगत है। यह स्वार्थ है।

फिर भी इस स्वार्थका एक ऐसा पहलू है जिसकी मुझे रक्षा करनी है। यदि मैंने उन्हें आत्म-समर्पण कर दिया तो समझ लीजिए कि मेरी शामत आ गयी। मेरे बाल-बच्चे मेरा स्वयंका व्यक्तिगत जीवन मेरा सुखका जितना-महत्त्व – यानी मैं-मैं-मैं – !!

— यह 'मैं' बेभाव नीलाम हो जायेगा। मैं इतना सस्ता नहीं हूँ। उन्होंने मुझपर उपकार क्या किया मेरी सारी ज़िन्दगी ख़रीद लेनेकी उन्होंने नैतिक क्षमता पा ली। और जब वे इस नैतिक दृष्टिसे उनके अपने फ़ायदेके समय मेरी निजी उपस्थितिके उनके अपने अधिकारका वे जो निर्मम प्रयोग करते हैं तो मैं हैरतमें पड़ जाता हूँ। उनकी यह अधिकार भावना मुझे अत्यन्त अविवेकपूर्ण मालूम होती है। और सिर्फ़ उसे ही बचाए रखनेके लिए मैं कल उनके यहाँ नहीं गया।

लेकिन मैं सोचता हूँ कि नैतिक दृष्टिसे प्राप्त अपना अधिकार छोड़नेके लिए कोई भी तैयार नहीं होता। मैं तैयार नहीं होता! आख़िर कमज़ोरीको उचित ठहरानेके लिए मैं भी तो मनुष्य बन जाता हूँ। इसलिए उनकी मनुष्योचित कमज़ोरीको मैं क्यों न मानकर चलूँ। और जो कमज़ोरी सब मनुष्योंमें हो सकती है वह कमज़ोरी नहीं बल्कि मनुष्यकी प्रकृतिका गुण-धर्म है!

इसलिए व्यक्तित्वके विश्लेषणका कोई दूसरा रूप होना चाहिए। मेरा अनुभव यह बतलाता है कि साधारणतः व्यक्तित्वका विश्लेषण करते समय विश्लेषक अपनी प्रकृति और स्वभावका ही अधिक प्रयोग करता है (यह स्वाभाविक ही है) किन्तु सुननेवालेको दिलचस्पी उसके विश्लेषणमें न रहकर, उस विश्लेषण-कर्त्ताकी प्रकृति-स्वभावमें

बनाता चढ़ जाती है। यह होता है। आपने भी इसका अनुभव किया होगा। तब बड़ा मजा आता है।

विश्लेषण-कर्ताके विश्लेष्यसे अधिक यहाँ विश्लेषण-कर्ता स्वयं महत्त्वपूर्ण बन जाये वहाँ मनुष्य स्वभावका पता चलेगा। इसीलिए मैं कहता हूँ कि विश्लेषित और विश्लेषकके बीच जो विचित्र और विशेष मानव-सम्बन्ध होते हैं उनकी विचित्रता और विविधता मेरी जिज्ञासाका विषय होनेके कारण मैं साधारणतः लोगोंके विश्लेषणोंपर अधिक विश्वास नहीं कर पाता। इससे अच्छा तो यह है कि विश्लेषित और विश्लेषकके बीचके मानव-सम्बन्धोंका अध्ययन किया जाये और उन मानव-सम्बन्धोंके सन्दर्भमें [illegible] विश्लेषित और विश्लेषकका भी अध्ययन हो।

एक विचारक मैं अपनेको बहुत ही भुलावापूर्ण स्थितिमें पाता हूँ क्योंकि मैं भी विश्लेषक हूँ और (विशेष मानव-सम्बन्धोंके आधारपर ही) विश्लेषण करता हूँ। तब मैं अपनेसे यह पूछता हूँ कि क्या मानव-सम्बन्ध-रहित होकर यानी अपनेसे ऊपर उठकर व्यक्तित्व-विश्लेषण सम्भव है? आज तक पहुँचा हूँ यह बिलकुल सम्भव है। मनुष्य अपनेसे परे जा सकता है। वह जाता भी है, गया था है और जायेगा भी। विभिन्न प्रकारसे प्राप्त अनेक तथ्योंका संग्रह कर वह अवश्य व्यक्तित्व-विश्लेषण कर सकता है और उसने किया भी है तथा वह करता भी जायेगा।

किन्तु उसका विश्लेषण सही ही है इसका क्या प्रमाण? इसकी कौन-सी कसौटी है? क्या वह छातीपर हाथ रखकर यह कह सकता है कि उसका विश्लेषण एकदम सत्य है? अगर मुझसे पूछा जाये तो मैं कहूँगा कि मेरे पास ऐसी किसी कसौटीका अभाव है। हाँ अपने अनुभवसे मैं यह कह सकता हूँ कि अमुक अमुक विषयमें यह सत्य है—खूब जाँची और परखकर। लेकिन मैं अपने अनुभवको ही मैं सत्यकी कसौटी नहीं मान सकता क्योंकि अपने किसी भी अनुभवको ही मैं सत्यकी कसौटी नहीं मान सकता क्योंकि मेरे किसी भी अनुभवका एक हिस्सा [illegible] अपने

प्रकृति-स्वभावसे उत्पन्न हुआ है। हाँ, यदि यह अनुभव सार्वजनिक हो जाय तो उसमें सत्यताकी मात्रा बढ़ जाती है। फिर भी अनुभवको अन्तिम कसौटी नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह देश-काल-निर्मित है। सॉक्रेटीजको बहुत बुरा आदमी कहकर ही फाँसी दी गयी थी। और अनेक शहीद अपने जमानेमें बहुत बुरे बनकर ही मरे।

मैं इस पूरी उलझनको पूरी तरह सुलझा नहीं पाता। यह कठिन है और इसीलिए मैं अपने किसी विश्लेषणको अन्तिम माननेसे इनकार कर देता हूँ।

पता नहीं क्यों लोग स्वयं-कृत विश्लेषणपर जितनी दृढ़ आस्था और निष्ठा रखते हैं वह मुझे बड़ी ही अविवेकपूर्ण मालूम होती है। इसके विपरीत मैं स्वयं भी जो 'व्यावहारिक व्यक्तित्व-विश्लेषण' किये रखता हूँ वह मुझे समाधान और सन्तोष नहीं देता। देखिए न!

व्यक्तित्वके न मालूम कितने ही पहलू हैं जो मुझसे छिपे हुए हैं जैसे पंखुरीके भीतर पंखुरी अथवा प्याजकी परतोंके अन्दरकी परतें। इसके अलावा व्यक्तित्वका जो रूप आज हमें दिखायी देता है, वहाँतक स्थायी है हम नहीं कह सकते। तीसरे, सबसे बड़ी बात यह है कि व्यक्तित्वके निर्माणकी कार्य-कारण-परम्पराका यदि अध्ययन करें तो आप देखेंगे कि व्यक्तित्व-निर्माणमें चेतन-मनका रोल बहुत ही कम होता है और उसमें कम रोल संकल्प-शक्तिका। दोनोंके रोल निस्सन्देह कम होते हैं लेकिन होते हैं बहुत ही महत्त्वपूर्ण — इतने महत्त्वपूर्ण कि उन्हींके कारण मनुष्य मनुष्य है। फिर भी आप जिसे व्यक्तित्व या चरित्र कहते हैं वह चेतन मनके बहुत बाहर की चीज है मानों हीरेको धारण किये हुए एक चिह्न। आत्म-साक्षात्कार बहुत आसान है स्वयंका चरित्र साक्षात्कार अत्यन्त कठिन है। मैं अपना चरित्र-साक्षात्कार नहीं करता लेकिन मर्मीका चरित्र विश्लेषण करने बैठ जाता हूँ। और मैं जब उनके सम्मुख इस प्रकार विश्लेषण करने बैठ जाता हूँ तब उन्हें आघात होता

है इसलिए कि उनका चरित्र उनकी आँखोंसे ओट है और जब वे मेरा चरित्र-विश्लेषण करने लगते हैं तब मैं भी क्रुद्ध हो जाता हूँ क्योंकि मेरा चरित्र भी मेरी आँखोंसे ओट है। मतलब यह कि हम आँखोंसे ओट अपने कोनोंका विचार किसीको करने देना नहीं चाहते।

यह चरित्र आत्म-निर्मित तथा परिस्थिति-निर्मित होनेके कारण हम निर्णायक महत्त्व आत्म-तत्त्वको दें या परिस्थितियोंको—यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका जवाब सन्तोषजनक और समाधान-कारक रूपसे अबतक नहीं दिया जा सका है। वैसे भी पहले मुर्गी आयी कि अण्डा – इस प्रश्नका उत्तर समाधानकारी रूपसे कहाँ मिला है? आत्म-पक्ष और परिस्थिति पक्ष एक ही वास्तविकताके दो अंग हैं। और इन दोनोंमें ऐसे गहरे अन्तःसम्बन्ध हैं जिनका सही-सही पूरा ब्यौरा देना नामुमकिन है।

इसलिए साहित्य मनुष्यके आत्मिक साक्षात्कारोंके बिम्बोंकी एक मालिका तैयार करता है। ध्यान रहे कि वह सिर्फ बिम्ब-मालिका है और उसका सारा सत्यत्व और औचित्य मनुष्यके जीवन या अन्तर्जगत्में स्थित है, चूँकि सभी मनुष्योंके अन्तर्जगत् होते हैं, इसलिए उनके औचित्य और सत्यत्वकी अनुभूति सार्वजनीन होती है। लेकिन ध्यान रहे कि अनुभूतिका होना सत्यत्वकी कसौटी नहीं है। और हम साहित्यमें रम जायें ही जायें उससे हमें शरम नहीं उसका एक पर्स्पेक्टिव, एक दिशा सूचन एक डायमेन्शन एक आकाश ही मिलेगा एक रोशनी ही मिलेगी – सिर्फ एक रोशनी। सत्यका प्रकाश सत्यसे भिन्न है? साहित्यमें प्रकाश ही प्रकाश है। किन्तु हमें प्रकाशित सत्योंको ढूँढ़ना है। हम केवल साहित्यिक दुनिया-में नहीं वास्तविक जीवनमें रहते हैं। इस जगत्में रहते हैं। साहित्यपर आवश्यकतासे अधिक भरोसा रखना मूर्खता है।

मतलब यह है कि हमारी इतनी बड़ी विवशताएँ हैं कि हम व्यक्तित्व या चरित्रके वैज्ञानिक विश्लेषणपर वाद-प्रतिवाद भरोसा नहीं रख सकते। हमें नहीं रखना चाहिए। फिर भी मनुष्यके पास वैज्ञानिक बुद्धि है, तटस्थ

भाव भी है और इसका समुचित प्रयोग अत्यन्त आवश्यक है और वहाँ तक अपने अपनेसे परे होकर इस प्रकारका वैज्ञानिक विश्लेषण जरूरी भी है। और मनुष्य उसे करता भी है।

किन्तु यदि उसकी सीमाएँ समझ ली जायें तो हम व्यर्थके राग-द्वेष और अपनको कटुताओंसे बच जाते हैं साथ ही आत्मरक्षा भी कर लेते हैं। और यदि तटस्थ निर्मल भावसे किया गया वैज्ञानिक विश्लेषण अपनी ही सत्यांश भी प्रकट करता है तो व्यक्तिपर हमारा अधिकार भी बढ़ जाता है। इसीलिए मेरा सुझाव है व्यक्तित्वका विश्लेषण दो प्रकारसे किया जावे। एक तो केवल विशुद्ध आत्म-हितके भावसे दूसरे सूक्ष्म-से-सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक स्वार्थोंको हटाकर। यदि हम अपने जीवनको एक उपन्यास समझ लें और हमारे जीवनमें आनेवाले लोगोंको केवल पात्र तो ज्यादा युक्ति-युक्त होगा। और हमारा जीवन भी अधिक रस-मय हो जायेगा।

लेकिन यह सब मैं क्यों लिख रहा हूँ? इसलिए कि आजकी जिन्दगी कुछ यों है कि उसमें एक दूसरेको लेकर बहुत ज़हर उगला जाता है। जितनी निम्न व्यक्तित्व-विश्लेषणमें बतलायी जाती है उतना ही वातावरण अधिक कड़ुआ हो जाता है। लगता है कि लोगोंको मिथ्या विश्लेषणकी आदत पड़ गयी है। यह बौद्धिक व्यवहार अहंकारका एक बड़ा भारी शिकार हो गया है। ऐसा क्यों? मध्यवर्गीय लोगोंमें बैठे-ठालेका यह मजेदार रोग उस ठलपनेको बताता है जो उनके हृदयमें व्याप्त है। व आपसे इस प्रकारके विश्लेषणमें जितनी घनघोर आस्था प्रकट करते हैं उतनी ही अनास्था मनुष्यके विकासमें होती जाती है। मैं अपनी अनास्था-से मुक्त होकर आस्थामें आ जाता हूँ व आस्थासे मुक्त होकर अपना अनजान ही या जानतेम भी मान-युक्त अनास्थामें विलीन होने लगते हैं। यह अच्छी बात नहीं है। इसलिए मैं अपने 'वैज्ञानिक चरित्र-विश्लेषण' को केवल काम-चलाऊ कार्यकारी मान्यताके रूपमें ही ग्रहण करनेको आग्रह करता हूँ। क्या यह गलत है?

यदि यह सही है तो मैं अपने उपकारी मित्र और उनकी पत्नी महोदयाके प्रति क्या न उन्मुख रहूँ ? जाकर मैं उनकी बीवीका मौखिक प्रार्थना।

लेकिन उस महिलाकी मौखिक पहलकी याद आते ही मैं अपनी ही इस डायरीको भूल जाता हूँ कि उसके बारेमें जो मैंने राय बना रखी है वह मित्र पत्नी-प्रकार अपकारी मान्यता है। मेरी साँस फूलने लगती है — मानो मुझे अब विकट परिस्थितिका सामना करना पड़ रहा है। आखिर मैं अनुभवोंको कैसे झुठलाऊँ ? उनके बिना तो ज्ञान असम्भव है। इन्हीं अनुभवोंके द्वारा ही मुझे दुनियाकी पहचान होती है। हाँ मैं यह मानता हूँ कि इस अनुभवसे ज्ञान प्राप्त करना या अज्ञान प्राप्त करना मेरी योग्यतापर, मुख्य उचित ज्ञान-तर्कोंपर ही निर्भर है। ज्ञानसे ही ज्ञान मिलता है। ज्ञानसे अज्ञानकी ओर जाया जाता है। अज्ञानसे ज्ञानकी ओर जाना — एक गोल-गोल वृत्तमें घूमना हुआ। इसीलिए मैं मौखिक पहलके अनुभवके दौरान इस बातका ध्यान रखूँगा कि आगे चलकर मुझे इस व्यक्तित्वके बारेमें कौन-सा नया ज्ञान यानी अज्ञानका ज्ञान प्राप्त होगा।

लेकिन मुझे अज्ञातसे डर लगता है। न मालूम कौन-सा अज्ञात अब मेरा इन्तज़ार कर रहा है। और मैं यह माननेके लिए प्रस्तुत हूँ कि हर तरहके अज्ञातके प्रति आकर्षित होना बुद्धिमत्ता नहीं है। मैं इस दुनियामें पड़ा रहता हूँ कि मुझे इलहाम होता है — इलहामके बगैर हम लोगोंका काम नहीं चलता। बात यह कि अपनी ज्ञानकी सीमाएँ और उसकी विवश दशाएँ समझो और इसीलिए अन्योंको सन्देहका फ़ायदा दो। किन्तु साथ ही इन विवशताओंसे पराजित होनेकी आवश्यकता नहीं। ज्ञानसे अज्ञातकी ओर जानेका कार्यक्रम बना डालो डरो नहीं। ज्ञानसे अज्ञातकी ओर जाना ही ज्ञानकी विवशताएँ टूटती रहेंगी उसकी धाराएँ टूटती रहेंगी लेकिन जिस दिनसे मात्र केवल ज्ञानसे ज्ञानकी ओर जायेंगे उस दिन ज्ञान

केवल अपनी ही कीलपर अपने ही आस-पास घूमते रहेंगे। यह अच्छा नहीं है। इसलिए आपको अज्ञातसे डरनेकी जरूरत नहीं। एक बार अज्ञातके एक हिस्सेको ज्ञात बना लेनेपर पहलेका 'ज्ञात भी कुछ नया रूप धारण करेगा। उसको यह नया रूप धारण करने दो उसकी इस क्रियामें बाधा मत डालो।



नयेकी जन्म-कुण्डली : एक

मैं एक ऐसे व्यक्तिको जानता हूँ जिसे (क्षमा कीजिए) मैं एक जमानेमें बहुत बुद्धिमान समझता था। मुझे उससे बहुत आशाएँ थीं कि वह आगे चलकर एक मेधावी प्रतिभाशाली पुरुष निकलेगा। लोग समझते थे कि मैं उस व्यक्तिको अनुचित महत्त्व दे रहा हूँ। मुझे लगता था कि वह व्यक्ति हमारी भारतीय परम्पराका ही एक विचित्र परिणाम है। वह अपने विचारोंको अधिक गम्भीरतापूर्वक लेता। वे उसके लिए धूप और हवा-जैसे स्वाभाविक प्राकृतिक तत्त्व थे। शायद इससे भी अधिक। हर क्षण उसके लिए न वे विचार थे न अनुभूति। वे उसके मानसिक भूगोलके पहाड़ चट्टान खाइयाँ ज़मीन नदियाँ झरने जंगल और रेगिस्तान थे। मुझे यह भान होता रहता कि वह व्यक्ति अपनेको प्रकट करते समय स्वयंकी सभी इन्द्रिय-शक्तियोंसे काम लेते हुए एक आन्तरिक यात्रा कर रहा है। वह अपने विचारों या भावोंको केवल प्रकट ही नहीं करता था वह उन्हें स्पर्श करता था सूँघता था उनका आकार प्रकार, रंग-रूप और गति बता सकता था मानो उसके सामने वे प्रत्यक्ष, साक्षात् और जीवन्त हों। उसका दिमाग़ मोचेका एक चिमटा था या सुनारकी एक छोटी-सी चिमटी जो बारीकसे बारीक और बड़ीसे बड़ी बातको सूक्ष्म रूपसे और मज़बूतीसे पकड़कर सामने रख देती है।

लेकिन वह बात पुरानी हो गयी। अब मुझे लगता है कि मैं भी बुद्धि भ्रान्त हो गया हूँ। मुझे ऐसा लगता कि मेरे दोस्तकी बुद्धिमत्ताका कारण उसकी ज़िन्दगी ही उदासी थी न कि केवल मस्तिष्क-तन्तुओंकी हलचल।

एक साहित्यिककी डायरी

बारह वर्षों बाद जब एकाएक मेरी उससे मुलाकात हुई तब आनन्द और आश्चर्यका कोई ठिकाना न रहा। आनन्दसे भी ज्यादा आश्चर्य। भविष्योंकी धाराओंके बीच इतने बड़े-बड़े पहाड़ आ गये थे कि उन्होंने हमारी दिशाएँ भी बदल दी थीं। अब फिरसे मुलाकात हुई तो स्वभावत हमारा ध्यान उन पहाड़ोंकी लम्बाई चौड़ाई ऊँचाई-नीचाईपर गया। बारह वर्ष बाद अब जो हम दो हो गये हैं तो किस तरह?

उसके बाल सुफेद हो गये थे। लेकिन यह कहना मुश्किल था कि वह नौजवान नहीं है। यों कहिए कि वह भूतपूर्व नौजवान था। मतलब यह कि प्रभाव उसके वर्तमान रंग-रूपका न होकर उसके भूतपूर्व रंगरूपका होता था। मुझे यह असर अच्छा लगता। जी चाहता कि उसके बारेमें रोमैण्टिक कल्पना की जाये। लेकिन यह कहना मुश्किल था कि उसकी सुन्दरता उसके रूपकी थी या उसके माथेपर पड़ी हुई रेखाओंकी। कम-से-कम मुझे तो वे लकीरें अच्छी लगतीं। खूबसूरत कागज सुन्दर तो होता ही है लेकिन यदि वह कोरा हुआ और उसमें कोई मजमून लिखे हुए न रहे तो सौन्दर्यमें रहस्य ही क्या रहा? सौन्दर्यमें रहस्य न हो तो वह एक खूबसूरत चौखटा है।

सामने पीपलका वृक्ष है। चाँदनीमें उसके पत्ते चमचमाते काँप रहे हैं। चाँदनी और उसमें चित्रित हुई छायाएँ हमारे मनोलोकको एक नयी दिशा दे रही हैं। मुझे मालूम था कि मेरे मित्रके लिए शेले की ओड टू वेस्ट विण्ड उतनी ही दूर है जितना कि मेरे लिए स्क्वेयर रूट ऑव माइनस वन। लेकिन इसके बावजूद ये दूरियाँ हमारी पहचानी हुई थीं और शायद इसीलिए व प्रिय भी थीं।

जब-जब मुझे दूरियोंका भान होता है, तब मुझे अच्छा भी लगता है और बुरा भी। अच्छा इसलिए कि दूरी हमारी शक्तिको एक चुनौती है। बुरा इसलिए कि मित्रोंके बीच दूरी खटकती है। हम एक ही भाषाका उपयोग तो करते हैं लेकिन अभिप्राय एक होते हुए भी व्यञ्जना और

[illegible] अलग अलग हो जाते हैं। यह दूरीके कारण है। दूरीपर विजय पाना मानव-स्वभाव है। वह एक साहस-रोमान्स है। जब हमें एक-दूसरेको फिरसे खोजना-पाना है।

एक तरहसे मुझे खुशी भी थी कि मैं उसे कतई भूल गया था और उससे बहुत दूर निकल गया था। शायद यह आवश्यक भी था। नहीं तो मैं उससे आक्रान्त हो जाता। मेरी अपनी दृष्टिसे वह असाधारण और असामान्य था। एक असाधारणता और क्रूरता भी उसमें थी। निर्ममता भी उसमें थी। वह अपनी एक धुन अपने एक विचार या एक कामपर सबसे पहले खुदको और उसके साथ अपने लोगोंको कुरबान कर सकता था। इस भीषण त्यागके कारण उसके अपने आत्मीयोंका उसके विरुद्ध युद्ध होता तो वह उसकी क्षति भी बरदाश्त कर लेता। उसकी जिन्दगीके इस बुनियादी तथ्यसे मैंने हमेशा बैर किया। जब वह राजनीतिमें उतरा तो मैंने उसके घरवालोंके सामने गरजकर यह आरोप लगाया कि यह उसका पलायन है अपना उत्तरदायित्व ग्रहण न करनेकी प्रवृत्ति है। मैंने उससे यह भी कहा कि वह राजनीतिज्ञ व्यक्ति है ही नहीं। राजनीतिके साथ जब वह साहित्यमें उतरा तब मुझे कुछ अच्छा लगा। लेकिन तब तक उसकी हालत विषम हो चुकी थी। घरके विरोध और बाहरके विरोधसे वह जर्जर हो गया था। लेकिन बहुत जिद्दी होनेके सबब वह अड़ा रहा। और तबसे हम एक-दूसरेसे दूर-दूर होते चले गये।

लेकिन आज मैं यह सोचता हूँ कि सांसारिक समझौतेसे ज्यादा विनाशक कोई चीज नहीं — खास तौरपर वहाँ जहाँ किसी अच्छी महत्त्वपूर्ण बात करनेके मार्गमें अपने या अपने-जैसे लोग और पराये लोग आड़े आते हों। जितनी जबरदस्त उनकी बाधा होगी उतनी ही बड़ी लड़ाई भी होगी अथवा उतना ही निम्नतम समझौता होगा।

इस भीषण संघर्षकी हृदय-भेदक प्रक्रियाओंमें-से गुजरकर उस व्यक्तित्व
भिन्नत्व कुछ ऐसा-वैसा, कुछ विचित्र असाध्य हो गया था। किन्तु सबसे बड़ी
एक साहित्यिकको सार्व

बात यह थी कि उसकी आयु सही थी। इसलिए वह असामान्य था।

दूसरे शब्दोंमें मैं सामान्य उसको समझता हूँ जिसमें अपने भीतरके असामान्यके उस आदेशका पालन करनेका मनोबल न हो। मैं अपनेको ऐसा ही आदमी समझता हूँ। मैं मात्र सामान्य हूँ — मैं नामी-गिरामी हूँ यह बात अलग है। और चूँकि वह व्यक्ति हमेशा मेरे भीतरके असामान्य को उकसा देता था इसीलिए अपने भीतरके उस उकसे हुए असामान्यकी रोशनीमें मैं एक ओर स्वयंको हीन अनुभव करता तो दूसरी ठीक वही असामान्य मेरी कल्पना और भावनाको उत्तेजित करके मुझे अपनेसे वृहद् और व्यापक जो भी है उसमें डुबो देता — चाहे वह इस्टीमन कैकमबुलस हो, सुदूर नेब्यूला हो या कोई ऐतिहासिक काण्ड हो अथवा कोई दार्शनिक सिद्धान्त हो या विशाल सामाजिक सत्य हो। इसलिए मैं अपने और अपने मित्रके जरिये असामान्यके अन्तश्चरित्र और सामान्यके दबावको भली भाँति जानता था।

लेकिन मेरी गति और वृत्ति कुछ और थी। जब मैं कोई काम करता तो इसलिए कि उससे लोग खुश होते हैं। वह काम करता तो सिर्फ इसलिए कि एक बार कोई काम हाथमें लेनेपर उसे अविकारी ढंगसे भली भाँति कर ही डालना चाहिए। मेरी व्यावहारिक सामान्य बुद्धि थी। उसकी कार्य-शक्ति आत्म प्रकटीकरणकी एक निर्द्वन्द्व शैली। हम दोनोंमें दो ध्रुवोंका भेद था। जिन्दगीमें मैं सफल हुआ वह असफल। प्रतिष्ठित मत और यशस्वी मैं कहलाया। वह नामहीन और आकारहीन रह गया। लेकिन उसको इस हालतकी उस तरह परवाह नहीं थी। इसका मुझे बहुत बुरा लगता क्योंकि वस्तुतः वह मेरी यशस्विताको भी बड़ी सत्ताके रूप स्वीकार न कर पाता।

इतने वर्षों बाद मेरी जिन्दगीमें जब वह वापिस आया तो मुझे लगा कि यह उस उल्का-पिण्डकी भाँति है जो सैकड़ों वर्षोंके अवकाशके बाद सूर्यके पास आकर एक चक्कर लगा लेता है, और पुनः अगम आकाशमार्ग

पर निकल जाता है। इस मुहूर्त मात्राके उसके अनुभवकी क़ीमत मैं जानता हूँ भले ही किन्हीं अप्रत्याशित संघर्षोंमें टूट-फूटकर वह पुल बनता हुआ बरसों बीस दूरके किसी अँधेरे शून्यमें खो जाये।

किन्तु आज उसने मुझसे कहा कि उसकी पूरी ज़िन्दगी भूलका एक नक़्शा है। मैं उसके विषादको समझ गया। वह ज़िन्दगीमें छोटी-मोटी सफलताएँ चाहता था। उसके पास तो सिर्फ़ एक सम्य असफलता है। (यह मेरी टिप्पणी है, उसकी नहीं।) मैंने सिर्फ़ इतना ही जवाब दिया "लेकिन नक़्शा तो है! यहाँ तो न भूलका है, न सहीका नक़्शा!"

मैंने उसका दिल बँटानेकी कोशिश की। और मैं कर ही क्या सकता था। मनुष्यके लिए यह स्वाभाविक ही है कि वह थोड़ी-बहुत सांसारिक सफलताकी इच्छा रखे। किन्हीं असावधान क्षणोंमें ही उसने मुझसे कहा कि वह स्वयं भूलका एक नक़्शा है। वरना वह ऐसा नहीं कहता। लेकिन आजका ज़माना कैसा है जब कि बुलबुल भी यह चाहती है कि वह उल्लू क्यों न हुई!

चाँदनीमें एक जादू होता है। लेकिन यह जादू अलग-अलग लोगोंके लिए अलग-अलग है। न मालूम हमारी बात कहाँसे शुरू हुई। मैं डर डरकर उससे बात करता जा रहा था। कहीं ऐसा न हो कि उसे जाने अनजाने मुझसे कोई चोट पहुँचे। क्योंकि उसने अपने विचारोंके लिए ख़ून बहाया है ज़िन्दगी ख़त्म की है। इसीलिए मैं धीरे-धीरे उसकी बात सुनता जा रहा था। और जहाँ मतभेद व्यक्त करना हो वहाँ मैं अपनी आदतके अनुसार उत्तेजित होनेके बजाय मुसकुराकर बात बदल देता।

मैंने उससे पूछा 'पिछले बीस वर्षोंकी सबसे महान् घटना कौन-सी है?

एक मिनिट तक उसने मेरी तरफ़ देखा और फिर छूटते ही कहा — संयुक्त परिवारका ह्रास!

मैं स्तब्ध हो गया ।

उसीने मेरे कन्धेपर हाथ रखकर खिलखिलाते हुए कहा   और इ
तथ्यका साहित्यसे बहुत बड़ा सम्बन्ध है ।

चारों ओर चाँदनीकी रहस्यमय मधुरता फैली हुई थी । चारों ओर
ठण्डा एकान्त फैला हुआ था । मेरी अजीब मनःस्थिति हो गयी । मैं अपन
पड़ोसियोंकी खिड़कियाँ ढूँढने लगा अपने परिचितोंका जीवन उमासमें
लगा । एक अनिश्चित बेचैनी मुझमें फैल गयी । हाँ यह सही है कि
जिन्दगी और जमाना बदलता जा रहा था । किन्तु मैं परिवर्तनके परि
णामोंको देखनेका आदी था परिवर्तनकी प्रक्रियाको नहीं ।

एक बात कह दूँ — आजकलकी आवश्यकताओंके अनुसार मैं चिन
स्त्री और पुरुष-कमाऊ लेकर मानव-वंशशास्त्र तक सबकी जानकारी
रखता हूँ । इस सम्बन्धमें बहुतेरे दिलचस्प तथ्य मेरे दिमाग-दिमागके
पिछले पॉकेटमें रखे हुए हैं । इसलिए मुझसे कोई ज्यादा गड़बड़ नहीं कर
सकता । जब मेरे मित्रने एकदम संयुक्त परिवारकी बात कही तो मन
उसका इम्तेहान लेनेकी जिद करके उससे पूछा   और इन वर्षोंमें सबसे
बड़ी भूल कौन-सी हुई ?'

एक मिनिटके लिए वह चुप रहा फिर उसने जवाब दिया 'राज
नीतिके पास समाज-सुधारका कोई कार्यक्रम न होगा । साहित्यके पास
सामाजिक-सुधारका कोई कार्यक्रम न होगा । हमने सोचा कि हम अनरल
(सामान्य) बातें करके सिर्फ और एकमात्र राजनीतिक या साहित्यिक
आन्दोलनके जरिये वस्तुस्थितिमें परिवर्तन कर सकेंगे । फलतः सामाजिक
सुधारका काम केवल अनगढ़ प्रभावोंको सौंप दिया गया....

'देखते नहीं हो आज़ादीके बाद जातिवादका उदय क्यों हुआ — खास
राजनैतिक संस्थाओंके भीतर ! कांग्रेस-जैसे राष्ट्रीय संगठनोंके अन्दर !

"सामाजिक सुधारका कार्य केवल अनगढ़ प्रभावोंको सौंप देनेका
कारण ही साहित्यमें भी गड़बड़ है.... '

नयी पत्र-कुण्डली : एक

उसकी यह उक्ति मुझे बड़ी हास्यास्पद प्रतीत हुई। उसमें मुझे मूर्खताके विशाल दृश्य दिखायी देने लगे। उसने अपनी बातको रबर-जैसी ताण दी है – ऐसा मुझे लगा।

उसने अविश्वाससे मेरी आँखोंकी तरफ देखा। शायद वह सही है कि मैं उसे बेवकूफ मान रहा हूँ।

रातमें और वह भी चाँदनी रातमें सामनेके हेमन्तके झाड़पर बैठे हुए कुछ कौए चौंक पड़े। शायद किसी चिमगादड़ने वहाँ झपट्टा मारा हो। कुछ कौए उड़े पेड़के आसपास कुछ देर तक मँडराये और फिर किसी डालपर जाकर बैठ गये।

लेकिन मेरा मित्र तैशमें था। उसने कहा 'समाजमें वर्ग हैं श्रेणियाँ हैं। श्रेणियोंमें परिवार है। समाजकी एक बुनियादी इकाई परिवार भी है। समाजकी अच्छाई-बुराई परिवारके माध्यमसे व्यक्त होती है। मनुष्यके चरित्रका विकास परिवारमें होता है। बच्चे पलते हैं उन्हें सांस्कृतिक शिक्षा मिलती है। वे अपनी सारी अच्छाइयाँ-बुराइयाँ वहाँसे लेते हैं। हमारे साहित्य तथा राजनीतिके पास ऐसी कोई दृष्टि नहीं है जो परिवारको लागू हो"

एक मिनिटके लिए वह चुप रहा और आगे बढ़ता गया

'समाजके साथ संयुक्त सामन्ती परिवारका ह्रास हुआ। विचारों और संस्कारोंके प्रति विद्रोह भी किया गया जो सामन्ती परिवारमें पाये जाते थे।

लेकिन उसके बाद क्या हुआ? घरके बाहर राजनीति या साहित्यके मैदानमें लेनदेन और घर आकर वैसा ही सोचते या करते जो सोचा या किया जाता रहा। समाजमें बाहर पूँजी या धनकी सत्तासे विद्रोहकी बात की गयी लेकिन घरमें नहीं। वह शिक्षा और दीक्षाके बाहरकी बात थी। मतलब यह कि अन्यायपूर्ण व्यवस्थाको चुनौती घरमें नहीं घरके बाहर दी गयी। घरका दंगल कठिन था। उसमें भावनाओंकी टकराहट वहींसे

होती थी जो अपने प्राणके अंश थे। इसीलिए न केवल उस समयको टाल दिया गया वरन् एक अजीब ढंगका समझौता किया गया। यह हुआ! मैं कहता हूँ यह हुआ! मानो इसे!

मुझे लगा मानो वह मुझे गाली दे रहा है। एक ठण्डी लहर मेरे पूरे शरीरमें दौड़ गयी। फिर भी चूँकि मुझे लगा कि उसकी बात अभी अधूरी ही है, इसलिए मैं चुप रहा। वह बोला —

'इसलिए पुरानी सामग्री अवशेष बड़े मजेमें हमारे परिवारोंमें पड़े हुए हैं! पुरानेके प्रति और नयेके प्रति इस प्रकार एक बहुत भयानक अवसरवादी दृष्टि अपनायी गयी है। इसीलिए सिर्फ एक सम्पन्नता है। प्रश्न है वैज्ञानिक पद्धतिका अवलम्बन करके उत्तर खोज निकालनेकी न जल्दी है, न उत्साह है, न कुछ। मैं मध्यमवर्गीय शिक्षित परिवारोंकी बात कर रहा हूँ।

'जो पुराना है अब वह लौटकर आ नहीं सकता। लेकिन नयेने पुरानेका स्थान नहीं लिया। धर्म-भावना गयी लेकिन वैज्ञानिक बुद्धि नहीं आयी। धर्मने हमारे जीवनके प्रत्येक पक्षको अनुशासित किया था। वैज्ञानिक मानवीय दर्शन वैज्ञानिक मानवीय दृष्टिने धर्मका स्थान नहीं लिया। इसलिए केवल हम अपनी अन्तःप्रवृत्तियोंके बलसे चालित हो उठे। उस व्यापक तलपर सर्वतोमुखी मानवीय अनुशासनकी हार्दिक शिक्षा बिना हम 'नया-नया' चिल्ला तो उठे लेकिन वह 'नया क्या है' — यह नहीं जान सके! क्यों? नया जीवन नये मान-मूल्य नया इनसान परिभाषा-हीन और निराकार हो गये। वे दृढ़ और व्यापक मानसिक सत्ताके अनुशासनका रूप धारण न कर सके! वे धारण न कर सके! वे धर्म और दर्शनका स्थान न ले सके।



नयेकी जन्म-कुण्डली : दो

डायरीमें-से कागजोंके पन्ने फट गये थे, इसीलिए वह अधूरी मालूम हुई। लेकिन बात पूरी थी।

—और इस पूरी बातका प्रतीक-रूप वह मित्र मेरे सामने अभी भी बैठा हुआ है। उसका चेहरा विचारोत्तेजनासे गरम और लाल मालूम होता है। उस गरम चेहरेके रंगकी ऊष्मा मुझतक आ जाती है। उसकी बात ठीक है — इतनी ठीक कि वह मुझे तकलीफ दे रही है। वह कह रहा था कि पुराना गया लेकिन नया नहीं आया, नयेके नामपर जो कुछ आया वह पुरानेका आसन ग्रहण नहीं कर सका। जीवनका व्यापक अनुशासक ध्वस्त कर गया। और नया तो केवल भ्रूण है, अभी उसके हाथ-पैर-मुँह बननेके हैं, विकसित होनेके हैं।

मेरे सामने बैठा हुआ मित्र चुप है, और एकटक मेरी ओर देख रहा है। मेरी राह देख रहा है। उसकी आँखोंसे प्रतीत होता है जैसे उसको यह विश्वास नहीं हो पा रहा है कि मैं उसकी बात समझ पा रहा हूँ, मानो मैं उसकी बातकी महत्तासे अंतरमें इनकार करता हूँ। इसलिए वह कहता गया—

ऐसा नहीं है कि नये मूल्योंका वैचारिक विकास न किया जा सके। या वे भ्रूणके भ्रूण ही बने रहेंगे।

मैंने बीचमें टोककर कहा — नहीं ऐसा तो नहीं है, नये मूल्य भी हमारे सामने हैं और उनकी प्रेरणासे उन्हींके विकासके लिए संघर्ष भी तो किया जाता है —

मित्रने कहा कि समाज पुरानी परम्पराको समाप्त करके नये मूल्योंकी नयी परम्परा स्थापित करनेका है। पहले हम परम्पराके दास थे आज हमारी हालत उससे भी खराब है, क्योंकि नयी परम्पराके अभावमें हम अन्तःप्रवृत्तियोंके दास हो गये हैं। इन अन्तःप्रवृत्तियोंका चाहे जितना आदर्शीकरण किया जाये वे मात्र व्यक्तिगत हैं। और इस समय तो नये मूल्य केवल बौद्धिक स्तरपर हैं। वे जीवनका अनुशासन क्या कर सकेंगे। यदि समाजकी संस्कृति मुख्यतः बौद्धिक संस्कृति होती वैज्ञानिक दृष्टि समाजकी प्रधान दृष्टि होती तो शायद यह सम्भव भी था। किन्तु ये नये मूल्य कुछ ही लोगोंके अन्तःप्रवाहकी मान्यतायें बन गये हैं। उन्हें कोई सामाजिक मान्यता प्राप्त नहीं है। न उस मान्यताके लिए व्यापक संघर्ष का आयोजन किया गया। मुख्यतः व्यक्ति एक सांस्कृतिक शून्यमें रह रहा है — एक कल्चरल वैक्युममें। फलतः कोई टी॰ एस॰ ईलियटके पास जाता है तो कोई आर्नल्ड टॉयनबीके समीप तो कोई और किसी तरफ।

किन्तु समाज-मान्य कोई पूर्ण समग्र जीवन-दृष्टि नहीं मिल पाती जैसे पुराने धर्मों और दर्शनोंमें मिल जाती थी। तो फिर जीवनके व्यापक अनुशासक सत्यकी प्राप्ति कैसे हो?

— मध्य-युगीन परम्परा सख्त भले ही हो भले ही हम उसे सामन्ती कहकर टाल दें, किन्तु उसका ढाँचा ऐसा था कि व्यक्तिमें मानसिक शक्ति का अपव्यय होनेकी गुंजाइश न थी। परम्पराका शील और विश्वासने उसे मानसिक संकटोंसे बचा लिया था।

वह मात्र प्रवृत्तिकी कठपुतली न था।

लेकिन आज परिवारमें वह परम्परा इतनी दृढ़ तो है नहीं। सिर्फ उसके अवशेष हैं। वे भी शून्य होते जा रहे हैं इसलिए कि मौजूदा औद्योगिक सभ्यताका प्रभाव चहुँरसे गहरा हो रहा है फिर भी इतना गहरा नहीं है कि व्यक्ति नवीन स्पन्दनोंमें धुलकर जीवनमें समाज-मान्य नवीन दार्शनिक अनुशासन प्राप्त कर सके। हमने उस सामन्ती इकाईको

तोड़ दिया। या यूँ कहिए कि वह आप टूटती गयी। परम्पराने हमारे स्नान और भोजनसे लेकर स्वास्थ्य-रक्षा तककी ठेकेदारी की थी।

परम्परागत शीलके आवरणने हमारे आत्म-तत्त्वको विशृंखल होनेसे बचा लिया था। हमने पुराने मूल्य तोड़ दिये। नये उपस्थित नहीं हुए। जो हुए, वे दृढ़ नहीं हो सके। वे समाजकी मान्यता बनकर नयी परम्परा का रूप धारण करते हुए आचरणको मूल प्रेरणा सिद्धान्त और सीधा नहीं बन सके। वे अस्पष्ट रह गये। उनकी अस्पष्टता खूबसूरत ही गयी।

वह आगे कहता गया "ऐसा क्यों हुआ? ऐसा इसलिए हुआ कि हमने अपने साक्षात् जीवनमें यानी परिवार और समाजमें बीतते हुए पुरानेके प्रति और आते हुए नयेके प्रति एक अवसरवादी दृष्टि अपनायी। यहाँ इन दिनों कोई जमकर विद्रोह नहीं हुआ नयेकी सर्वांगीण स्थापनाका कोई आग्रह भी नहीं रहा। इस ढंगके समाजके बदलनेका काम साहित्यने या विचारधाराने भी नहीं किया। मार्क्सवाद या राजनीतिने सामाजिक क्षेत्र सँभाला समाज बदलनेकी बात की। लेकिन केवल राजनैतिक प्लैटफ़ॉर्मसे ही समाज नहीं बदला जाता…"

और तब मेरे मित्रने मेरी तरफ़ देखा कि मैं क्या सोच रहा हूँ! क्षण भर मेरी थाह लेनेकी कोशिश करनेके बाद उसने कहा — बाहर राजनीति या साहित्यमें नवीन जीवन 'नये मानव-मूल्य' की बात चलती है समाजवादी ढंगकी समाज रचनाकी बात चलती है लेकिन जहाँ घर की बात आयी — खास तौरपर परिवारमें मूल्योंकी स्थापनाकी बात आयी — कि बड़े विचारक कन्नी काट गये। मानो घर समाजसे बाहर हो। आज भी हमारे परिवार सामन्ती कट्टर-पन्थी विचारधाराके गढ़ हैं या युग या ज़िन्दगीके अत्याचारके दुर्ग हैं — यह न भूलिए।

परिवारमें न केवल सामन्ती अवशेष हैं वरन् यहाँ भी बराबर तीन श्रेणियाँ दिखायी देती हैं। एक वह आदमी है जो पैसा कमाकर लाता है उसे सबसे अधिक आदर ही नहीं दिया जाता वरन् उसकी मान्यता और

विचार उसकी रुचि-अरुचि और काम धाम ही सबके लिए मानदण्डके रूपमें प्रस्तुत हो जाते हैं — चाहे वे कितने ही अवैज्ञानिक अनुचित और स्वार्थ-पूर्ण क्यों न हों। सबसे निचली श्रेणी उन लोगोंकी है कि जो चौकेमें रहते हैं। अगर कहीं स्त्री निरक्षर हुई या निर्धन परिवारसे आयी हुई रही तो वह और उसकी जैसी स्थितिके व्यक्ति उस तीसरी श्रेणीमें ही रहते हैं। दूसरी श्रेणीमें बालक और कमाऊ व्यक्तिके वे रिश्तेदार हैं जो उससे कम कमाते हैं। यदि वे ज्यादा कमाते हैं तो वे प्रथम श्रेणीमें या उससे भी ऊपर होकर सबके लिए अनिवार्य नियामक रूपमें यशोभाजन हो जाते हैं। धन अथवा सांसारिक सफलता और उससे मिली हुई कीर्तिकी तानाशाही परिवारमें जितनी चलती है उतनी बाहर भी नहीं। मानवतावादकी हरदम दुहाई देते हुए भी घरमें जितना अहंकार और व्यक्तिवाद तथा वैचारिक दासता चलती है उसकी कोई हद नहीं।

मजा यह है कि उसको स्वाभाविक मान लिया गया है। वह प्रकृति गत है। स्वाभाविक है, इसलिए सही भी है। उसके प्रति विद्रोह कुल-शील संस्कार मर्यादा और प्रतिष्ठाके प्रति बगावत करार दी जाकर वैसे तुरन्त ही घृणित माना जाता है। सास-बहूके झगड़े या पिता-पुत्रके झगड़े आदर्श प्रेरित हैं — यह नहीं कहा जा सकता। किन्तु परिवारका नायक और व्यक्ति चरित्रका इतिहास जिस विशाल परिस्थितिका निर्माण करते हैं उस परिस्थितिकी जांच-पड़ताल होना बहुत जरूरी है। इस परिस्थितिके कारण परिवारका व्यक्ति दूसरेके लिए परिस्थितिका अंग बन जाता है। व्यक्ति मानवीय व्यक्तित्व हृदयके रूपमें प्रस्तुत न होकर स्थिति-परिस्थितिके एक अंगके रूपमें जब प्रस्तुत होने लगता है तब परिवारके भीतर एक खोट पैदा होने लगती है। हम उस व्यक्तिको एक प्राणमय मानव सत्ताके रूपमें स्वीकार न कर, उसे अपनी परिस्थितिका एक अंग मान उसका गुण-दोष विवेचन करने लगते हैं चरित्र-विश्लेषण करने

सकते हैं इस युक्तिसे कि उस व्यक्तिको हमारी समझसे जो करना चाहिए वह उसने नहीं किया ...

परिवारमें पुराने सामन्ती संस्कार विचारोंके अलावा मौजूदा व्यक्तिवादी धनवादी दुराग्रहोंके वातावरणके अस्तित्वके कारण घरमें दम घुटने या घुटे जानेके दृश्य इतने विशाल और असंख्य हैं कि क्या कहना ... व्यक्तिके मुक्त विकास और आत्मोन्नतिका साधन होनेके बजाय जब परिवार एक कोठा हो जाता है तब आप उसे क्या कहिएगा ! ।

आप कहेंगे कि सब परिवार ऐसे नहीं हैं। मैं मानता हूँ। लेकिन सामन्ती विचारधाराके ध्वस्त होनेके बाद नयी विचारधारामें वह तेजस्विता आयी ही नहीं है जो जीवनके सभी पक्षोंको अपने मानिक अनुशासनमें रखे। न केवल यह, ऐसी विचारधाराको विकसित करनेकी उसके विकासके लिए संघर्ष करनेकी कोशिश ही नहीं की गयी है। असलमें नये और पुरानेके प्रति पूरा अवसरवाद अपनाया गया है। इस सुविधामूलक स्वत्वहीन अवसरवादके कारण ही साहित्यमें भी नयेको चमत्कार देनेकी कोई उपाय नहीं है। 'नया-नया नया-मूल्य नवीन मानव' में केवल नवीन ही अरूप है। असलमें इस नयेको अपनी इच्छाके ऊपर छोड़ दिया गया है। इसलिए 'नया' बिलकुल प्रवृत्ति-मूलक है।

हो सकता है मेरे कहनेमें अतिरंजना हो। किन्तु वास्तवमें आजकल हीन नयके सिर्फ विज्ञापनकी घोषणा हुई। नयी कविता नये विज्ञापनकी कविता है।

मेरे मित्रने मेरे हाथ जोड़े। गिड़गिड़ाहटके स्वरोंमें कहा – क्षमा करना भाई क्षमा करना मेरे दोस्त! लेकिन क्या आधुनिक भाव-बोध ही काफ़ी है? सामन्ती विचार-धाराका स्थान लेनेके लिए क्या हम उस भाव बोधको मूल्य-बोध तक बढ़ाकर उसे एक दर्शनका रूप नहीं दे सकते – ऐसा दर्शन जो नयी सामाजिक परम्परा बनकर व्यक्ति और समाजके जीवनके सभी पक्षोंको अनुशासित कर सके? ध्यान रखिए कि यदि वह

आधुनिक भाव-बोध ऊँचा उठाया न जा सका और उसके द्वारा व्यक्तिगत और सामाजिक कर्मानुशासन न हो सका तो क्या होगा ?

सम्पन्न कर्ता खण्डित हो जायेगा। मूर्ति-भंजकों स्व-मूर्तिका सिर काट लिया जायेगा और उसकी छाती फोड़ दी जायेगी।

भारतीय जीवनकी भीतरी गतिका आपके साहित्यमें प्रतिबिम्ब हो या न हो उसकी तलाश हो या न हो वह गति आपसे कभी काटकर निकल जायेगी। साहित्यमें सब कुछ अधूरा रह जायेगा क्योंकि वह जीवनमें अधूरा रहा। इसलिए मेरे खयालसे आजकी सबसे बड़ी आवश्यकता है — पुरानेके प्रति और नयेके प्रति वस्तुपरवादी दृष्टि जन्म ली जाये। और 'नया क्या है उसका तत्व और रूप क्या है, यह निर्धारित किया जाये। जब यह प्रक्रिया जीवनमें, घरमें और परिवारमें शुरू होगी तभी वह साहित्यमें भी शुरू होगी। जीवन-मूल्य और कलात्मक साहित्यिक मूल्यमें आवश्यक सम्बन्ध है, यह न भूलना चाहिए। इन्हें विकसित करनेके लिए केवल साहस ही नहीं स्पष्ट दृष्टि, स्पष्ट लक्ष्य और स्पष्ट विचार-धाराके लिए कोशिश आवश्यक है।

मैंने हँसते हुए कहा कि प्रत्येकमें ही अन्तर छिपा रहता है और ऐसे भी लोग हैं जो विद्रोह भी करते हैं किया है और कर रहे हैं।

मने एक साँस ली, उसाँस छोड़ी और सचिन्तित हँसते कहा — और तुम्हारी इस सारे बातका साहित्यसे क्या सम्बन्ध है ?

मैंने मुसकुरानेकी कोशिश की।

उसने कहा — साहित्यकी गतिविधियोंको देखिए तो पता चलेगा। एक तो वह घरके बाहरका साहित्य है। उसमें मूल मानव-सम्बन्धोंके चित्रणकी गुंजाइश ही कहाँ है ? आप तो भाव प्रकट करते हैं ? मानव-सम्बन्ध नहीं !

मने कहा — यह अतिशयोक्ति है। उसने पलटकर जवाब दिया — नहीं नहीं आप गलत कह रहे हैं।

उसने मुझसे पूछा — परिवारके भीतर परिवर्तनकी प्रक्रिया हो रही है या नहीं ?

मैंने कहा — हाँ।

उसने पूछा — कौन कर रहा है ?

मैंने कहा — वह तो हो रही है। नये विचार नये भाव।

उसने कहा — क्या कौन-से ? और फिर वह खुद ही कहता गया — क्या उन भावों और विचारोंके लिए कोई विशेष संघर्ष चल रहा है ? क्या उस संघर्षका कोई सामाजिक मान्यता मिली है ? क्या उस संघर्षके पीछे कोई क्रियाशक्ती है या वह सिर्फ एक व्यक्तिवादी विद्रोह है या अहंका विस्फोट ? परिवारके भीतर जो कुछ चल रहा है — क्या वह प्रवाह-पतित जैसा नहीं है ?

इसका सम्पूर्ण प्रभाव हमारे साहित्यपर है।

परिवारमें हमारे सामने मानवीय आदर्श और मानवीय मूल्य होते हैं या होना चाहिए। उनके लिए संघर्ष किया जाता है अथवा उनका संकल्प किया जाता है। यदि परिवारमें ही यह प्रक्रिया चले तो जीवनमें जोरदारी होगी। जो परिवारके मूल्य होंगे व जीवनमें होंगे ही और वे साहित्यमें भी उतरेंगे। हाँ यह सही है कि साहित्यमें आकर उनकी रूप रेखा बदल जायेगी किन्तु उनके तत्व कैसे बदलेंगे ? जिन्दगीके जो रस हैं, जो रवैया है, जो ऐटीट्यूड्स हैं, वे साहित्यमें अवश्य प्रकट होंगे……

इस प्रश्न और शंकाको आप उत्तरके सिंहासनपर नहीं बैठा सकते। हमारा परिवार यदि केवल व्यक्तिवादी आधारपर बना है, यदि केवल वही अहं ही प्रधान है, तो उसमें संयुक्त सामग्री परिवारसे भी ज्यादा बुराइयाँ रहेंगी। तब वहाँ सिर्फ प्रश्न ही प्रश्न रहेंगे उत्तर नहीं।

मैं यहाँ उससे समझौता करना चाहता था। उसकी बातें बहुत अंशों तक मुझे उचित प्रतीत हुईं।

फिर भी मैंने पक्ष छेड़ते हुए कहा — लेकिन साहित्यपर उसका क्या

प्रभाव है, यह मैं अभीतक नहीं समझ सका।

उसने कहा — विचारधाराका न होना, या अविश्वास और अश्रद्धाको ही विचारधारा मान लेना, प्रश्नका ही उत्तरका स्थान देकर हाथ झाड़ लेना — हमारी नवीनतम साहित्यिक प्रवृत्तिका एक लक्षण है। इससे क्या सूचित होता है?

मैंने कहा — ऐसा! उसने कहा — और नहीं तो क्या? आज-कल हर मानसिक प्रतिक्रिया एक विचारका रूप धारण कर लेती है।

किन्तु मनकी हर हरकत या प्रतिक्रिया विचार नहीं होती। प्रश्नमें ही यदि उत्तर समाया हुआ दीखता है तो वह केवल प्रवृत्ति ही का दूसरा नाम है। नहीं तो प्रश्न ही के अलग-अलग उत्तर क्यों होते? उत्तरके सिंहासनपर शंकाको बैठानेका मतलब है, अपनी समस्यामें प्रश्न ही का आदर्शीकरण करना, समस्यामें फँसे रहनेका उदात्तीकरण करना। वास्तविक उत्तर खोज न पानेकी स्थितिका यह आदर्शीकरण अनुचित है।

मैंने कुछ तीव्र होकर जवाब दिया — किन्तु जो उत्तर सामने दीख पड़ते हैं वे अशुद्ध, अनुचित, खण्डित और अव्यावहारिक हों तो?

उसने जवाब दिया — तो खोजको महत्त्व दो! लेकिन उत्तरके सिंहासनपर यदि शंकाको बैठाओगे (यह कहनेकी बातें हैं, वास्तविक जीवनमें कोई ऐसा नहीं करता) तो आपकी जो द्विधाग्रस्त मनःस्थिति है उसीमें फँसे रहनेका आप एक जाल रच रहे हैं। यदि आप विचार कर रहे हैं तो विचारके मूलभूत अनुशासनके नियमोंमें रहो और खोजकी उस पद्धतिके — जिसे आप वैज्ञानिक कहते हैं — अनुसार चलो।

वह कहता चला गया — मनकी उग्र प्रतिक्रिया ही आजकल विचार कहलाती है। विचारको कसनेकी कोई ऑब्जेक्टिव कसौटी नहीं है। कसौटी ही क्यों? जरूरत भी क्या है? हम आत्म-बाह्य किसी भी सत्यके प्रति विद्रोही हैं तो हमारी बुद्धि विश्वास चाहती है, लेकिन विश्वास कर नहीं सकती। इसलिए वह विश्वास या श्रद्धा

करेगी भी तो ऐसेमें जिसे अवश्य किसी कसौटीपर कसा नहीं जा सकता वही उसके लिए सुविधाजनक है। सुविधा आजके जीवनका प्रधान नियम है। नैतिक और अनैतिक उचित और अनुचित संगत और असंगतका निर्णय करनेकी ताकत आपने व्यक्तिके परे किसी वैज्ञानिक पद्धति या तुला-दण्डको नहीं सौंपी वरन् अपनी अन्तरात्माको यानी भीतरी प्रवृत्तिको जो आपकी अपनी है।

आप यह माने बैठे हैं कि अन्तरात्मासे निकला हुआ बोध भाव या निर्णय उचित होना ही चाहिए, संगत होना ही चाहिए।

लेकिन अगर मेरी या आपकी या उनकी अन्तरात्मा छोटी और तुच्छ हो तो? संकुचित और छिछली हो तो प्रतिभाशालीकी पुरुषकी आत्मा अत्यन्त हीन भी हो सकती है। इस अन्तरात्मासे निकले हुए बोध-वचन या निर्णय हमेशा औचित्य स्थापना करेंगे ही यह आवश्यक नहीं है।

उसने कहा — अन्तरात्मा वाला एक प्रवृत्तिमूलक और अन्तस् किसी भी प्रकारके विश्वास और श्रद्धाका विरोधी है। कहनेके लिए भले ही हम 'विश्व-कल्याण'की बात करें या 'मानवता' या 'दायित्व'की बात करें — ये सब बातें अरूप हैं। इनका कोई आकार नहीं है अथवा दूसरे शब्दोंमें जिसको जो समझमें आये वही उसकी 'समझ'में आया है इसलिए वह उचित भी है! इसके अन्दर ही जो लोग उत्तर देखते हैं वे उत्तरको अपनी इच्छापर निर्भर रखते हैं। इसमें कोई शोध-बुद्धि या वैज्ञानिक आग्रह नहीं है। यदि वैसा होता तो शोधका वैज्ञानिक आधार भी साहित्यमें होता। वह भी अच्छा ही था।

लेकिन क्या वस्तुतः यह भी है?

मेरा खयाल है कि मेरा दोस्त बिलकुल बहक गया है। लेकिन पहली बात तो यह है कि यह बहक बहक होकर भी कम मूल्यवान् नहीं हो पाती। मैंने अपने मनमें उसके बहुतेरे तर्क और विचार आपके सामने रख

लिये। वे सदोष एकांगी और अनुचित भी हो सकते हैं। शायद हों भी। लेकिन क्या उनको एक बार जाँच कर लेना ज़रूरी नहीं है?

चाँदनी मस्त फैली हुई है। और मेरा मित्र एक बौद्धिक भूत-बाधासे मेरे पीछे-पीछे चल रहा है। मैं अकेला बढ़ा जा रहा हूँ अपने ख़यालोंमें डूबा हुआ।



वीरकर

शहरसे जरा दूर, गाँवके पास मैं और मेरे मित्र श्री वीरकर गोपाल-मन्दिरके इस छोटे-से चबूतरेपर बैठे हुए हैं। पता नहीं क्यों किन्हीं-किन्हीं मन्दिरोंका वातावरण मुझे बहुत अच्छा लगता है। साफ़ कह दूँ कि मेरा ईश्वर-वीश्वरमें कोई विश्वास नहीं। फिर भी किन्हीं-किन्हीं वातावरणोंमें हमेशाके लिए लीन हो जानेका जी करता है। छोटा-सा मन्दिर है। चारों ओर कुन्द, पारिजात, टगर और कन्हेर और चम्पाके पेड़ लगे हुए हैं, जो जंगली मालूम होते हैं, क्योंकि कोई उन वृक्षोंकी देखभाल नहीं करता। एक निर्जन पुष्प-सघन वातावरण है, जिसमें गाँवके रंग भीग गये हैं। अभी अकेलापन है। शायद छह-सात बजे लोगोंका आगमन शुरू हो।

'शाम दुपहरको खा देकर रातमें लीन हो जाती है और रात भी सुबहमें परिणत हो जाती है। यह चक्र चला आया है, चला चलता है। इसको प्रगति नहीं कहते।

वीरकरने इतना कहकर मेरी तरफ़ इस तरह देखा मानो वह कोई अत्यन्त गम्भीर सत्य कह रहा हो। उसकी बातमें कोई सत्य (तथ्य) हो या न हो, मुझे वह आदमी पसन्द है, इसलिए उसकी बात मुझे एकदम निस्सार मालूम नहीं हो सकती। मैंने यथाशक्ति छायावादी मनोवृत्तिसे उसके वक्तव्यमें अर्थ देखनेकी, खोजनेकी, ठोंक देनेकी कोशिश की। लेकिन प्रयत्न करनेपर भी कुछ हाथ न आया। उसके वक्तव्यका अभिप्राय तो साफ़ ही शून्यवत् है, यह मैंने महसूस किया और भीतर-ही भीतर हँस

बातको कोशिश करने लगा कि मैं उसे भूल न समझूँ।

बीरकर कहता गया — उसको प्रगति नहीं कहते। मेरे ख़यालसे वह गति भी नहीं है।

मैंने चकराकर एक उबासी ली और उससे स्पष्टीकरण माँगा।

उसने बहुत धीरे-धीरे कहना शुरू किया मानो उसकी साँस उखड़ रही हो और बड़े प्रयाससे शब्दोंको जोड़कर वाक्य बना रहा हो। आपने अभी कहा था कि हमारे काव्य साहित्य या कलामें लाइफ़का कॉन्टेन्ट (जीवनके तत्त्व) बहुत कम है।...मेरा विचार है कि आपकी खास शिकायत यह नहीं है कि साहित्यमें तत्त्व कम है, वरन् यह है कि जीवनमें तत्त्व अधिक है। वह जीवन जो जिया या भोगा जाता है, उसमें इतने अधिक तत्त्व हैं—सुबहसे लेकर शाम तक मनपर उन तत्त्वोंका इतना अधिक संवेदनात्मक प्रहार होता रहता है कि उत्तेजित हा-हाकर मस्तिष्ककी रगें फटनेके डरसे जान बचानेके लिए उन तत्त्वोंको टाल देते हैं भूल जानेकी कोशिश करते हैं और मन जान-बूझकर भूलनेमें सुखका निर्माण कर लेता है।"

मुझे हतप्रभ हो जाना चाहिए था। किन्तु मैं मात्र हतबुद्धि होकर उसकी तरफ़ देखने लगा। मैंने उसीकी बातको निखारकर रखना चाहा। मैंने कहा "शायद आप यह कहना चाहते हैं कि आपके सचेत संवेदनशील कलाकारकी समस्या यह नहीं है वरन् यह कि वह बहुत अधिक है और वह सुबहसे लेकर शाम तक लगातार इकट्ठा होता रहता है, कि उस कॉन्टेन्टका प्रॉपर सिंथेसिस (उन तत्त्वोंका यथायोग्य संकलन-संश्लेषण) नहीं हो पाता। क्या आप यह कहना चाहते हैं?"

— येस यू आर (हाँ अवश्य सही)। बीरकरने उत्साहित होकर जवाब दिया और आगे जोड़ा 'लेखकके मनमें लगातार एकत्रित होते जानेवाले इन तत्त्वोंका इतना बोझ होता है और ईश्वरने या समाजने उसे इतना कम अवकाश दिया है कि अनेक कलात्मक नमूनोंमें उनको

पुनर्रचना हो नहीं पाती। इसके फलस्वरूप वे तत्त्व उभर नहीं आते जिनपर पाठक मरे जाते हैं। अथवा यों कह लीजिए कि लेखक अपने हृदय-मन को बधिर करनेके लिए अपने मनमें किसी शून्यत्वका निर्माण कर लेता है और वह स्वयं भी उसमें खो जाता है। मैं यह समझता हूँ कि लेखकको आज इस स्थितिसे उबरनेकी आवश्यकता है।

वीरकरने यह आघात शायद मुझीपर किया था, अथवा उसकी व्यक्तिगत अपनी कोई विशेष पार्श्व भूमि हो सकती है। मैं यह जानना चाहने लगा कि आखिर उसके मनमें क्या है।

वीरकर एक मझोले क़दका आदमी है। हाई स्कूलका मामूली टीचर है। साधारण परिस्थिति है। पढ़ना-लिखना ठीक है। काफ़ी घुमक्कड़ है। उसने लम्बी-लम्बी यात्राएँ भी की हैं। आदमी दिलचस्प है। सबसे बड़ा गुण यह है कि वह मेरा दोस्त है।

मुझे लगा कि उसकी बातमें कुछ सार है। इसीलिए बात बढ़ाते हुए मैंने उससे कहा, "लेकिन इन जीवन-तत्त्वोंकी अनेक नमूनोंमें पुनर्रचना आखिर वह क्यों नहीं कर पाता? वह उनकी उपेक्षा क्यों करता है? मेरे खयालसे वह अपने ओछे मनके वस्तु-तत्त्वोंसे भाग रहा है, अथवा उसमें इतनी प्रतिभा नहीं है कि वह उनको उचित रूपसे प्रस्तुत कर सके!!"

वीरकर हँसा और मेरी तरफ़ देखते हुए कहा, 'इसका जवाब आप खुद दे सकते हैं। लेकिन यह निस्सन्देह है कि अलग-अलग लेखक अलग अलग जवाब देंगे। बहुत-से लेखकोंमें प्रतिभाका अभाव, किन्हींमें उत्साहका अभाव, पता नहीं क्या-क्या।

वीरकरने मुझे एक सदमेमें अन्तर्मुख कर दिया और मैं यह सोचने लगा कि आखिर इन समस्याओंका रंग क्या है, और उनका मुझसे जो सम्बन्ध है उसका स्वरूप क्या है।

मन्दिरके चबूतरेपर शामकी भीनी धुँधलकेमें आसपासके वृक्षोंके फूलों और पत्तियोंकी सुगन्ध आ रही थी! अभी रातके आठ भी नहीं बजे थे।

न केवल वृद्ध और अधेड़ स्त्रियाँ वरन् लड़कियाँ और नवयुवक मन्दिरमें आते दूर ही से गर्भस्थलगर्भमें स्थित देवतापर फूल फेंकते और हाथ जोड़कर न मालूम क्या-क्या बुदबुदाते हुए क्षण-भर प्रार्थना-मग्न हो जाते। शहरकी भड़भड़से दूर यह मन्दिर रातके साढ़े नौ बजे तक इसी तरह व्यस्त रहता। साधारणतः मन्दिर जानेवाली इन नवयुवतियों और नवयुवकोंकी इस प्रार्थनोन्मुख भावनापर मैं हँसा करता। लेकिन पता नहीं क्यों आज मैंने व्यंग्य नहीं कसा। मैं चुप रहा।

इन युवक-युवतियोंको देख न जाने क्यों मैंने भरे हुए मनसे बोरकरसे सिर्फ इतना ही कहा "परिस्थितिसे सामंजस्यके लिए यह जो आजीवन संघर्ष है उसमें कितनी मनोवैज्ञानिक शक्ति खर्च हो जाती है। पच्चीस साल तकके यौवनमें जब व्यक्तिकी मानसिक शक्ति निर्माणशील प्रयत्नोंमें लगनी चाहिए वह कैसे बेहूदा युद्धमें व्यय हो जाती है।

बोरकर खुद अपनमें घुटा-घुटा-सा लग रहा था। उसने कहा "लेखकके स्वभावमें बहुत-सा आदर्शवाद रहता है या कहिए भावप्रवणता भिर रहती है। हम यह करेंगे यह कदापि नहीं करेंगे। किन्तु समाज या समय लेखकको या अन्यको ऐसा विकल्प देता कब है? उन्नतिकी तिमंज़िली इमारतमें घुसकर ऊपर तक जानेके लिए सिर्फ एक ही जीना है, वह भी चक्करदार। उसपर बहुत भीड़ है। बड़ी ठेलमठेल है। लेखक कहता है, मैं उसके साथ खड़ा रहूँगा उसके साथ नहीं। लेकिन परिस्थितिने उसको यह विकल्प दिया ही कहाँ है? वह परिस्थितिसे जबरदस्ती यह विकल्प लेना चाहता है। इसका परिणाम यह होता है कि ठेलमठेल करती हुई भीड़के नीचे वह कुचला जाता है या इस इमारतके बाहर उसको एकदम निकल जाना पड़ता है या वह ठल दिया जाता है और साधारणतः ऐसे लोग अपनी मध्य-श्रेणीसे गिरे हुए होते हैं। मध्य-श्रेणीसे गिरे हुएकी मनःस्थिति हमेशा खराब रहती है...."

मैंने कहा 'तो अपने वर्गकी आदतें संस्कार भावनाएँ कहाँ जायेंगी?'

उसने कहा, "फिर भी उन्हें अपनी बम-श्रेणीसे गिरे हुए ही रहना पड़ता है। चूँकि वह उनकी सीढ़ीसे फिसलकर गिरे हुए हैं, इसलिए वह बम-श्रेणी उनका तिरस्कार करती है। मनुष्यपर न्याय-निर्णय देनेका उसका मानदण्ड व्यवहारतः उसी वर्गका होता है। मेरी हालत देखो न! मेरी धोती फटी हुई है, इसलिए वे मुझपर दया करते हैं, कि मैं अयोग्य निकला, कि मैं अनुत्तरदायी हूँ! अनुत्तरदायी कौन — मैं या वह? मेरे नाते-रिश्तेदार सब उसी श्रेणीके हैं। इससे कृपा, तिरस्कार, आलोचनाका विषय तो बनना ही पड़ता है।"

धीरकरने दुःख-भरी हँसी हँसते हुए कहा, "मगर मैं उन्नतिके पथपर चलनेके लिए ठेकमठेक करम करूँ तो शायद मैं भी सफल हो सकता हूँ। लेकिन ऐसी सफलता किस कामकी जिसे प्राप्त करनेके लिए आदमीको आत्म-गौरव खोना पड़े, चतुरताके नामपर बदमाशी करना पड़े, शालीनताके नामपर बिल्कुल एकदम सफेद झूठी खुशामदी बातें करनी पड़ें। जिन व्यक्तियोंको आप क्षण-भर टॉलरेट (सहन) नहीं कर सकते उनके दरबारका सदस्य बनना पड़े! हाँ, जो लोग यह सब कर लेते हैं वे अपनी मनोव्यथाएँ छुपाते हुए घरमें लौटते हैं और जिनमें आत्म-विन्यासने वास करते हैं! मानो वहींका राज्य है। बहुतेरोंमें शायद पुराना हो गया है, लेकिन उसकी कला इन दिनों अत्यन्त परिष्कृत होकर चमक उठी है।"

धीरकर कहता गया, "अब बताइए, हम सफेदपोशोंपर क्या-क्या नहीं गुजरती! जिस वर्गसे हम गिरे हैं, वह वर्ग हमें फटे कपड़ोंमें भी उन्मुक्त नहीं रहने देता। वह हमारे पीछे पड़ा रहता है। अब बताइए, उसे कैसे सम्भालें! उसके मानदण्डोंकी पूर्तिके लिए (गन्दी गाली देकर धीरकरने कहा था, मैं यहाँ भ— शब्दका उपयोग कर रहा हूँ) हम अपनी 'ऐसी-तैसी' कराते फिरें! अभी क्या बताऊँ, हमने जब निम्नवर्ग-सोसाइटी वाली तो हमें अजीबो-गरीब परिस्थितिका सामना करना पड़ा। खैर!"

मैंने कहा "बताइए, बताइए !"

वीरकरने जवाब दिया "जिन लड़कियोंको मामूली पोर्ट्रेट-पेण्टिंगका क-ख-ग नहीं आता ...खैर छोड़िए यह किस्सा ! जब हम उस सोसाइटी का वार्षिक सम्मेलन करने जा रहे थे तो मैं एक मिनिस्टरको बुलवा लाया। साहब, हमारे लोग कितने खुश ! मेरे पिताजीको लगा, मेरा लड़का अब ठीक रास्तेपर आ रहा है। अभी आपसे क्या कहूँ, मिनिस्टरके बँगलेपर मेरे एक परिचित बैठे हुए थे। वह एक नेताका लड़का था। मिनिस्टरकी पीठ फिरते ही मुझसे कहता क्या है, 'हमारे पिताजीको प्लेटफ़ॉर्म दिलवाइए न ?' जी हाँ, जनतामें उनको प्लैटफ़ॉर्म नहीं मिल पाता इसीलिए वे आजकल भूदान-आन्दोलनमें काम कर रहे हैं। मैंने अपनी कमिटीके वार्षिकोत्सवकी अन्तिम सभाका उन्हें अध्यक्ष बना दिया... बस हो ! मेरे लोगोंकी क्या खुशी हुई ! अबतक मैं निकम्मा ही नहीं अयोग्य था ! लेकिन मेरी पहुँच उनतक देख मेरी इज्जत कितनी बढ़ी ! यह अब बिलकुल सम्भव है कि उनके जरिये मुझे बहुत-से काम मिलते जायें। लेकिन वे लोग — कितने बदमाश कितने गधे !

मैंने वीरकरसे कहा, 'तुम अपने मुद्देसे भटक गये हो।'

उसने कहा, "बिलकुल नहीं...हमारा लेखक अपनी भौतिक सांसारिक उन्नतिके लिए दन्द-फन्द करता रहे या स्वयं अपनी दिशामें प्रगतिके लिए वह कोशिश करे। अगर उसने पहली बात छोड़कर दूसरी बात की तो उसके पीछे भूत लग जाते हैं — भूखके, दयनीयताके, अपमानके, अभावके, रोगके, यहाँतक कि मृत्युके। यदि दूसरी बात छोड़ पहली बात की तो उसका मूल मन पिण्ड ही नष्ट हो गया समझिए। यदि उसने दोनों बातें एक साथ करना चाही तो वह इन दो घोड़ोंपर एक साथ सवारी नहीं कर सकता। उसकी स्थिति न केवल उपहासास्पद हो जायगी वरन् वह पहले दरजेका बदमाश भी बन जायेगा। ऐसे कई उदाहरण मैं अभी दे-अभी दे सकता हूँ। कहो तो नाम लूँ। बोलो लूँ ?"

मैंने बीरकरसे कहा, मेरा तो सिर दुख रहा है।

तड़ाकसे जवाब मिला, 'तुम्हारे क्यों भी दुखते हो? उस वर्गके आलोचक गुट-बैठोंको कहते हैं कि तुम 'ऑब्सक्योर' हो। जो लिखते हो समझमें ठीक-ठीक सब समझमें नहीं आता। या प्रश्नों ही प्रश्नों हो। असल-में तुम्हारी दुनिया ही अलग है। तुम्हारे सिम्बल्स (प्रतीक) ही अलग हैं। तुम्हारा वातावरण ही अलग है। तुम्हारी प्रेरणा ही भिन्न है। वह भला उनके लिए अनुकूल क्यों होगी? वह उन्हें समझमें कैसे आ सकती है? क्यों वह उन्हें सुन्दर क्या लगेगी!

मैंने बीरकरको टोककर कहा, 'लेकिन तुम्हारी इस बातसे इस तथ्यका क्या सम्बन्ध कि हमारी श्रेणीके लेखकके पास साहित्यसे सम्बन्धित संवेदनात्मक जीवन-तत्त्व बहुत अधिक है, किन्तु वह उन्हें अन्दर पाउडर कर देता है। और वह कृत्रिम रूपसे मनमें एक शून्य बना लेता है।

बीरकरने कहा, 'चलो उठो तुम बेवकूफ हो—पर चलो देर हो गयी। अभी वह बहती हुई नयी-नयी लहरोंमें डूबा रहता है, पानी आँखोंमें समा जाता है, वह आँखें मूँदकर तैरता है। लेकिन पानीके बाहर सिर निकालकर उसका नील-विस्तार-दृश्य नहीं देख पाता। इन तत्त्वोंकी अनेक नमूनोंमें पुनर्रचना करनेके लिए, बहुत गहरी चिन्तन-शक्ति चाहिए। कम उसको फ़ुरसत ही नहीं है। और फ़ुरसत यदि है भी तो बहुत थोड़ी-सी।

मैं चुप रहा। मुझे लगा कि वह काफ़ी हद तक सही कह रहा था। अब मुझे ही देखिए न! दिन भर मैं जिस दुनियामें प्रवेश करता हूँ उसे यदि देखा जाये तो वह स्वप्न-कथाका ही एक रूप है। वह एक विशाल उपन्यास है। वह एक चित्र-कथा है। उसमें कितने ही मनोहर और सुकुमार भयंकर तथा विनाशपूर्ण दृश्य हैं। अगर मैं अपनी तात्कालिक जीवन-गाथाके प्रसंग उठाकर लिखूँ तो भी बहुत-कुछ हो सकता है। लेकिन क्या मैं ऐसा करता हूँ? नहीं। वास्तविक जीवन जीते समय

संवेदनात्मक अनुभव करना और साथ ही ठीक उसी अनुभवके कल्पना-चित्र प्रक्षेपित करना — ये दोनों काम एकदम एक-साथ नहीं हो सकते। उसके लिए मुझे घर जाकर अपनेमें विलीन होना पड़ेगा। इसीलिए मैंने थियरी (सिद्धान्त) बनाकर रखी है चाहे वह किसीको पसन्द हो या न हो कि इन संवेदनात्मक क्षणों या क्षणोंका बैकग्राउण्ड (भूमिगत) हो जाना बुरा नहीं है।

मैंने यही बात अपने प्यारे मित्र कीरकरको बतायी। उसका विश्लेषण मुझे पसन्द आया इसलिए मैं उसे यहाँ दे रहा हूँ।

उसने बताया कि अनुभव-संवेदन और अनुभव प्रक्षेपण दोनों साथ साथ नहीं चलते, यह एकदम सही है। किन्तु जिस व्यक्तिका मन मूलतः क्रिएटिव (सृजनशील) और कल्पना-प्रवण है वह टेबिलपर लिखते वक्त कल्पना-प्रवण होता है यह बात नहीं। उसकी सर्जनशील कल्पना प्रवणता वस्तुतः दिन-भर चलती रहती है। सच तो यह है कि वह उसके जीवनका एक अंग है। जीवनका धर्म होते हुए भी वह उस धर्मका यथायोग्य पालन नहीं करता, पालन करनेकी कोशिश भी नहीं करता। उदाहरणके लिए, वह किसी विषयपर सम्पादकीय लिखता है। तुम पत्रकार हो। सम्पादकीय लिखते वक्त एकदम उस व्यक्तिका ध्यान जाता है इस बात पर, कि वह जो कुछ लिखना चाहता है उसमें कई जगह सम्पादकी दाँव छूट रहे हैं। उसकी कल्पनामें एक इमेज कौंध होता है (एक चित्र उभरता है) एक व्यक्ति भावनाका, एक जिन्दगीका अपने जीवनका दृश्य दीखता है कि वह जिन्दगी गुटाईमें जी रहा है। वह न केवल एक दुःख निर्माण कर रहा है, करता जा रहा है। उसमें एक इमेज पर्सनैलिटी एक दृश्य है।' कीरकरने मुझे चुनौती देते हुए कहा, 'क्या तुमने इस इमेज पर्सनैलिटीके जीवन-दृश्य प्रस्तुत किये ?' उसने आगे कहा, 'क्यों नहीं किये ? तुमने अपने धर्मका पालन क्यों नहीं किया ?

कीरकर, पता नहीं क्यों, बहुत उत्तेजित हो उठा। वह गड़बड़ा रहा

था गरज रहा था। उसने मुझपर जब इस प्रकार आक्रमण किया तो मेरा हतबुद्धि हो जाना स्वाभाविक था। मैं क्रुद्ध हो उठा।

जब उसने मेरी आँखें देखीं और तमतमाया चेहरा देखा तो वह हँस पड़ा। और बोला, 'यह मेरे प्रश्नका जवाब नहीं हुआ। 'डबल पर्सनैलिटी' इस शब्दसे तुम्हें आपत्ति है यह ठीक है। तुम्हारी आपत्ति साधार है। तुम अच्छे आदमी हो इसीलिए मेरे दोस्त हो। आओ, चाय पी लो।'

मैंने कहा, 'मुझे चाय-वाय नहीं पीनी। तुम निकम्मे आदमी हो।'

उसने मुझे शान्त करते हुए कहा कि 'विभक्तता-सूचक ही क्यों न सही तुम्हें डबल पर्सनैलिटी न सही डबल स्टैण्डर्ड रखना ही पड़ता है। मुझको भी रखना पड़ता है। तुम्हारी बुद्धि एक पण्य-वस्तु है — एक 'कमोडिटी' है। तुम बुद्धि बेचते हो, मैं भी वैसा ही करता हूँ। यह मैं जानता हूँ कि जीवन प्रधान है। जीवन न रहा तो कला कैसी! साहित्य कैसा! लेकिन सोचो तो कि जिस अनुभव-संवेदनमें तुम लगातार जीते रहते हो यदि उस संवेदनको तुम प्रकट न करोगे, तुम न बताओगे तो किसको पड़ी है कि वह बताये! अपने अनुभवोंका तुम सिगनिफिकेन्स (महत्त्व) पहचानो। सामाजिक दृष्टिसे तुम्हारा स्थान कुछ नहीं इसलिए तुम अपनेको हेय या छोटा मत समझो। तुम मात्र एक संवेदनशील माध्यम हो। अपने को जान-बूझकर हेय या छोटा समझकर इस माध्यमको विकृत मत करो। अपने ही ईमानदार अनुभव-संवेदनोंका तथा अपने जीवनके स्थायी भावोंको प्रॉपर पर्सपेक्टिव (सही परिप्रेक्ष्य) में पहचानो।'

वीरकरकी आवाज़ इतनी भरी-भरी थी, वही थी कि मुझे लगा कि वह किसी भावनामें बह रहा है। मुझे एकदम न जाने क्या उत्तेजना हुई। मैंने स्नेहपूर्वक उसके कन्धेको जोरसे हिला दिया। उसने अन्तमें कहा, 'इन अनुभव-संवेदनोंको संजोकर रखना, उनसे सम्बन्धित जीवन-दर्शन और मानव-हृदय समेटकर रखना, उन्हें नोटबुकमें टाँक लेना क्या ज़रूरी नहीं है? स्वयंको आन्तरिक रूपसे सम्पन्न करनेका यह

भी एक उपेक्षा है — क्या ऐसी बात नहीं है ?"

वीरवरसे मिल यथासमय प्रशान्तापूर्ण आँखोंने मना कर देना व वीरवरको नहीं थी। मेरी नजरमें चलता-फिरता साधारण दीखकर ठोस ठोस व्यक्ति है। यह कोई और है जिसमें मानव-विकास-तत्त्व देखनेका अनुरूप सामर्थ्य है। यह एक महापुरुष है जो विश्व-स्वप्न बनाता है!

मैं चलनेको हो गया। हम धीरे-धीरे कदम-कदम चलने लगे। मैं मनमें दुहराने लगा — सचमुच साहित्यसे सम्बन्धित जीवन-तत्त्व बहुत ही अधिक है। लगातार होनेवाले विविध अनुभव-संवेदनोंके एकदम साथ न रहो तो भी कदम-ब-कदम किसी-न-किसी तरह 'कोई-न-कोई' चाह लिए ही नहीं अनुभव-अन्वेषण भी चलता रहता है, क्योंकि व्यक्ति मानस कल्पना-चमत्कार। इस तथ्यसे कैसे इनकार किया जाय! यद्यपि इतने स्पष्ट रूपसे वीरवरने यह बात प्रस्तुत नहीं की थी। साथ ही कल्पना-चमत्कार इन अनुभव-अन्वेषणोंके सही-सही कलात्मक चित्र प्रस्तुत करनेके लिए, न केवल मानसिक मनन और उसके संकलन-संचयनकी आवश्यकता है, वरन् इसके बहुत-बहुत पहले चित्त-दृष्टिकी आवश्यकता है। इस दृष्टिके अभावमें अपने ही अनुभवोंके ठीक-ठीक मर्मको हम आँक नहीं पाते और इसलिए केवल कुछ विशिष्ट अनुभवों या अनुभवाभासोंको ही तरजीह देकर अन्य महत्त्वपूर्ण अनुभवोंको गया बीता कर देते हैं। क्या यह सच नहीं है? मेरे खयालमें यह एक तथ्य है। इस प्रकार नतीजा यह होता है कि बहुत बार हमारा साहित्यिक विकास जिस दिशामें जैसा होना चाहिए वैसा नहीं हो पाता। हम जो अनुभव साहित्यिक प्रकटीकरणके लिए, प्रवृत्तिवश चुन लेते हैं उनकी हमें आदतमें आदत पड़ जाती है उनके चित्रण-अंकनका अभ्यास हो जानेके कारण हम केवल उन्हें ही प्रकट करते रहते हैं। पर अनुभव अपनी गहराई तीव्रता तथा प्रभावशालिताके बावजूद मनके अँधेरेमें पड़े रहते हैं ऐसे ही कभी-कभी उनकी गूँज हमारे द्वारा निर्मित साहित्यमें पायी जाय। इसका कुल मिलाकर परिणाम यह

होता है हम यह नहीं सकते कि हमारे द्वारा लिखित साहित्य समाज तो जाने ही दीजिए हमारे व्यक्तित्वका भी सच्चा प्रतिनिधित्व करता है या नहीं। यदि कोई साहित्यसे कोई हमारे व्यक्तित्वका अनुमान करने बैठे तो वह धोखा खा जायगा। हमने संस्कारवश या प्रवृत्तिवश एक खास ढंगका कल्पोत्पन्न साहित्यिक रिफ्लेक्स साहित्यिक भाव तथा उसकी अभिव्यक्तिकी यान्त्रिक सरलता बना रखी है। यह क्या उचित है ?

मैं स्वयं अंशतः इसका गुनहगार हूँ लेकिन मुझे अपनेपर विश्वास अथवा विश्वासाभास सिर्फ इसलिए है कि चीरफाड़ जैसे मेरे सहचर हैं जो मुझसे हर उचित बात छातीपर चढ़कर, करवा लेंगे। हाँ यह बात अवश्य है कि जो बात होगी वह यदि होना है तो अपने ढंगसे ही होगी।



विशिष्ट और अद्वितीय

मैंने अपने मित्रकी तरफ़ स्तम्भित दृष्टिसे देखा। और जब उसे पेशोपेशमें पाया तो कहा— 'मैं क्या कहने जा रहा था ?

मेरे इस प्रश्नको सुनकर मेरा मित्र भी अपनी मुस्कानसे काम लेने लगा और बोल पड़ा' ।

"तुम कोई गहरी बात कहने जा रहे थे।

मैंने उसकी उक्तिमें कोई व्यंग्य भाव नहीं पाया। मैं वास्तविक रूपमें कहने लगा—"हाँ कोई गहरी बात।

मित्र मेरी तरफ़ दुखी होकर देखने लगा। साफ़ था कि वह उकता चुका है लेकिन चूँकि मैंने उसकी खूब खातिर-तवाज़ा की है इसलिए अब वह मेरी बातोंको वह धैर्यका धर्म पालन कर रहा है। यह भी ज़ाहिर था कि मुझपर एक नशा चढ़ गया है — उपायोंका चरम पीला और ठंडा लगा। लेकिन चूँकि अब यह चढ़ ही गया है तो उसका मज़ा ही क्या न लिया जावे ! सच तो यह है कि मैं अपनमें बिना पूछे उस नशेका मज़ा लिये जा रहा था और एक क्षण वह आया था — साहित्यकार उसे चरम क्षण मानते हैं — जब मेरी साँस रुक गयी थी मैं स्तम्भित हो गया था।

कुछ क्षणकी चुप्पीके बाद हम फ़िल्मोंकी निरर्थकताके बारेमें बहस कर रहे थे। वही दैनिक जीवनका क्रम वही दफ़्तर, वही मजबूरियोंकी बातें सिनेमा और कुछ इधर-उधरकी गप शायरी और 'मनोहर कहानियाँ' 'धर्मयुग' और 'ज्ञानोदय'। गुम। हमारी ज़िन्दगी गुम। ज़िन्दगीमें दिलचस्पी गुम। दिलचस्पीमें दिलचस्पी भी गुम।

हम सभी खूब पढ़े-लिखे थे — इतने कि अपनेसे बड़ोंके लिए लेख और भाषण लिखते थे जो उन्हींके नामसे रेडियोसे ब्रॉडकास्ट होते थे। इस तरह न मालूम कितनों ही को मैंने बुद्धिमान बना दिया है।

किन्तु मैं कौन-सी 'गहरी' बात कहने जा रहा था भूल गया। यह तो बुरा हुआ। बड़ी मुश्किलसे तो एक श्रोता फँसा था। आजकल अच्छे श्रोता मिलते कहाँ हैं? सबको अपनी-अपनी सुनानेकी पड़ी है। सच तो यह है कि इस श्रोताके बाद न मेरे इस मित्रको फ़ुरसत रहेगी न मुझे।

वैसे मुझे हमेशा फ़ुरसत रहा करती है। फ़ुरसत निकालना भी एक कला है। गधे हैं जो फ़ुरसत नहीं निकाल पाते। फ़ुरसतके बिना साहित्य-चिन्तन नहीं हो सकता, फ़ुरसतके बिना दिनमें सपने नहीं देखे जा सकते। फ़ुरसतके बिना अच्छी-अच्छी बारीक-बारीक महान्-महान् बातें नहीं सूझतीं।

इन सबके लिए फ़ुरसत चाहिए और उसको पानेकी कला चाहिए।

तो मैं कलाके बारेमें बात कर रहा था। इस सम्बन्धमें मैं आठ-दस निबन्ध भी लिख चुका हूँ। उनकी प्रशंसा भी हुई है। अगर वह प्रशंसा सही है तो मैं मूर्ख नहीं हूँ। इसी आधारपर मैं हमेशा सोचता रहता हूँ कि मैं बुद्धिमान हूँ किन्तु यह कहते नहीं बनता क्योंकि मैं मन-ही-मन यह महसूस करता रहता हूँ कि अगर मैं मूर्ख नहीं हूँ तो नासमझ ज़रूर हूँ। मैं ऐसी ही किसी बेचैनीका एक विचित्र पंछी हूँ।

और इसी तरहकी कोई बात सोचते-सोचते मैं नयी कविता या उसके पुराने नाम प्रयोगवादी कवितापर आ जाता हूँ।

हुआ यह कि एक थे हमारे डिप्युटी डायरेक्टर। किसी ज़मानेमें वे शिक्षा विभागमें थे। वहाँसे हवा खाते-खाते वे ऐसेम्बली डिपार्टमेण्टके अण्डर सेक्रेटरी हो गये। गुमान गुरूर और गुर्राहट।

उनके दुर्भाग्यसे उनका एक लड़का कलाकारनवीस निकला। एक ढीले-ढाले और ऊँचे क़दका आदमी था जिसका चेहरा चौड़ा पीला और

दुबला था। भवें घनी और मुच्छेदार थीं। ठुड्डीके बीच एक गड्ढा था जिस कारण उसकी दो ठुड्डियाँ हो जाती थीं। मामूली मसखरा चेहरेकी इनायत नहीं हो सकती थी। बहुत सख्त और घने थे उसके बाल।

उसमें तीन बातें बड़ी मार्केकी थीं। एक तो यह कि उसके कन्धे झूलते थे। अगर एक पैरपर भार देकर खड़ा हो जाये (जैसा कि वह अक्सर करता था) तो वह दूसरे पैरको उससे लपेट-सा लेता था हाथोंको मिलाकर उन्हें बाँहोंमें दबा-सा लेता था और दोनों कन्धोंको पास-पास नाजुकी (बचकानी) कोशिश करता था। तब ऐसा लगता था मानो वह पूरे शरीरको बीचमें-से मोड़ देगा।

उसकी दूसरी विशेषता यह थी कि बावजूद अपने ऊँचे कदके वह जरा-जरा-सी बातपर झेंपता था। देखनेवालोंको यह ख्याल हो जाता था कि इस लम्बे ऊँचे कदवाले और सख्त बालोंके घने जंगलवाले चौड़पन में कहीं तो भी किन्तु किसी केन्द्रीय स्थानपर नारी बैठी हुई है। उसके रिश्तेमें नहीं तो भी कुछ ऐसा जरूर है जो अनुचित और अनावश्यक रूपसे कोमल तथा सुकुमार है।

उसकी तीसरी विशेषता यह है कि वह अपने बापको गाली देता था। हाँ सही है कि वह सबके सामने ऐसा नहीं करता था। कुछ लोग थे — और वे थोड़े थे — जिन्हें वह अपना दोस्त समझता था उनके सामने दम भरके बापकी बुरी-बुरी बातें बताता था और फिर हुल्लड़ करता था।

तो मैंने उसका जिक्र क्यों किया?

वह नयी कविता भी लिखता था। बार उन्हें लेकर वह मेरे पास अक्सर चला आता था। चूँकि उसका व्यक्तित्व विचित्र था और वह अच्छा [illegible] नहीं था (वह बहुत उकता जाता था। उसको सबसे बड़ी धुन थी — उकताहट) इसलिए मेरी उसमें दिलचस्पी नहीं बन सकती थी।

लेकिन मैं उसको पढ़ जाता था जिसका एक कारण यह था कि उसका बाप सरकारमें ऊँचे ओहदेपर था और मुझे आशा थी कि उस

हम सभी खूब पढ़े-लिखते थे –
और भाषण लिखते थे जो उन्हींके ना
तरह न मालूम कितना ही को मैंने –

किन्तु मैं कौन-सी महरी व
ता बुरा हुआ। बड़ी मुश्किलसे ता
मौका मिलते नहीं है ? सबको
यह है कि इस चीजके बाद न मेरे व

वैसे मुझे हमेशा फुरसत रहा
करता है। गये हैं जो फुरसत
साहित्य चिन्तन नहीं हो सकता
जा सकते। फुरसतके बिना अच्छी
बातें नहीं सूझतीं।

इन सबके लिए फुरसत चाहिए

तो मैं कलाके बारेमें बात कर
निबन्ध भी लिख चुका हूं। उनकी
नहीं है तो मैं मूर्ख नहीं हूं। उसी
कि मैं बुद्धिमान हूं किन्तु यह कहते
यह महसूस करता रहता हूं कि
हूं। या ऐसी ही किसी श्रेणीका एक

और इसी तरहकी कोई बात स
पुरानी नाम प्रमाणकारी कविनागर का

हुआ यह कि एक थे हमारे कि
तिरा विभागमें थे। बड़ोंमें हुआ था
मैजेस्टी हो गय। पूरान पुरुष और

उनके दुर्भाग्यसे उनका एक
दोहे-हाथ और ऊंचे कदका आदमी

दुबला था। मूँछें घनी और मुच्छैदार थीं। ठुड्डीके बीच एक गड्ढा था जिस कारण उसकी दो ठुड्डियाँ हो जाती थीं। मामूली उस्तरेसे चेहरेकी हजामत नहीं हो सकती थी। इतने सख्त और घने थे उसके बाल।

उसमें तीन बातें बड़ी मार्केकी थीं। एक तो यह कि उसके कन्धे झुके थे। अगर एक पैरपर जोर देकर खड़ा हो जाये (जैसा कि वह अक्सर करता था) तो वह दूसरे पैरको उससे लपेट-सा लेता था, हाथोंको मिलाकर उन्हें जाँघोंमें दबा-सा लेता था और दोनों कन्धोंको पास-पास लानेकी (असफल) कोशिश करता था। तब ऐसा लगता था मानो वह पूरे शरीरको बीचमेंसे मोड़ देगा।

उसकी दूसरी विशेषता यह थी कि बावजूद अपने ऊँचे कदके वह जरा-जरा-सी बातपर झेंपता था। देखनेवालोंको यह खयाल हो जाता था कि इस लम्बे ऊँचे कदवाले और सख्त बालोंके घन दमखमवाले चौड़पन में कहीं तो भी किन्तु किसी केन्द्रीय स्थानपर, नारी बैठी हुई है। उसके दिलमें कहीं तो भी कुछ ऐसा जरूर है जो अनुचित और अनावश्यक रूपसे कोमल तथा सुकुमार है।

उसकी तीसरी विशेषता यह है कि वह अपने बापको गाली देता था। हाँ सही है कि वह सबके सामने ऐसा नहीं करता था। कुछ लोग थे — और वे थोड़े थे — जिन्हें वह अपना दोस्त समझता था, उनके सामने वह अपने घरकी टूटी-फूटी बातें बताता था और फिर हमला करता था।

तो मैंने उसका जिक्र क्यों किया!

वह कभी कविता भी लिखता था। और उन्हें लेकर वह मेरे पास अक्सर चला आता था। चूँकि उसका व्यक्तित्व विचित्र था और वह अच्छा श्रोता नहीं था (वह जल्दी उकता जाता था। उसकी सबसे बड़ी शत्रु थी — उकताहट) इसलिए मेरी उससे ज्यादा नहीं पट सकती थी।

लेकिन मैं उसकी कद्र करता था जिसका एक कारण यह था कि उसका बाप भण्डारमें ऊँचे ओहदेपर था और मुझे आशा थी कि उस

कहानी' के मतलबका नया ढंगकी पुच्छसे अलग किया जाये। क्या मैं इस बात झूठ बोल रहा हूँ !!

और मेरा तो अपना यह खयाल है कि यह मेरा बेटा दोस्त अगर 'नयी कविता' लिखता था तो ठीक ही करता था। वैसी कविता पसन्द निम्नमध्यमवर्गकी वैयक्तिक प्रसंग प्राप्त और प्रसंग-ग्रस्त मनोदशाकी कविता है। लेकिन चूँकि वैसे वैयक्तिक प्रसंग अनेकोंके हो सकते हैं, और होते हैं (भले ही कुछ लोग उन्हें छिपा जायें) तो उनको एक सामाजिक अर्थ और महत्त्व तो प्राप्त हो ही जाता है। कवि उस प्रसंग — स्थितिमें बद्ध रहकर उसके भीतरसे संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ करता है। किन्तु केवल संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ तो किसी भी प्रसंग-स्थितिका सम्पूर्ण वस्तु-सत्य नहीं हो जातीं।

कथाकार यदि सचमुच जीवनका गहरा और व्यापक ज्ञान रखता है तो वह प्रसंग-स्थितिमें बद्ध मनुष्यकी संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओंको ही महत्त्व नहीं देगा वरन् उस स्थितिसे सम्बन्ध रखनेवाले जो वस्तु-सत्य हैं उनको बतलानेवाले तत्वोंपर अर्थात् व्यक्ति-स्वभावकी विशेषताओं वास्तविकताकी पेचीदगियों और अबतक चलते आये इन सबके विकास-क्रमपर इन सबपर अवश्य ही ध्यान देकर, इस प्रसंग-स्थितिके वस्तु-सत्यके सारे ताने-बाने (कथात्मक प्रभावशाली रूपसे कोरे ढंगसे नहीं) प्रस्तुत करेगा। और इस प्रकार व्यक्ति-समस्याको मानव-समस्या बनाकर एक व्यापकतर पार्श्वभूमिमें उसे उपस्थित करेगा। ऐसा करना चाहिए।

देखिए मित्र ऐसी समझानेकी आपको सिखायी लेकिन ध्यान रखिए कि मैं समीक्षक होनेका भी दावा कर सकता हूँ (करता ही हूँ। आखिर कौन नहीं करता है। हम सब एक-दूसरेके समीक्षक हैं)।

हाँ तो मुझको मानना चाहिये कि 'नयी कहानी' में आधुनिक मानव (इसका मतलब चाहे जो लीजिए प्रगतिवादी अर्थ मत लीजिए) भी जो

विचित्र मनोदशा है। उसका अगर आप उसके सारे सन्दर्भोंसे काटकर, उसके सारे बाह्य सामाजिक-पारिवारिक इत्यादि सम्बन्धोंसे काटकर उस मनोदशाको मानो बाहरसे छटकाकर — चित्रित करेंगे तो मनोदशाके नाम पर (कहानीमें) एक धुन्ध छा जायेगा। कहानीमें अगर सिर्फ भीतरी धुन्ध हो और सिर्फ वही वह रहे और उसीकी इतनी प्रधानता हो कि वस्तु-व्यापारें संवेदनात्मक चित्रोंका प्राय लोप हो जाय तो आप वही गलती करेंगे कि जो (मेरे खयालसे) नयी कविताने की। कविताकी कथा कथाको कलासे अधिक अमूर्त तो वैसे ही होती है इसलिए सम्भवतः उसमें य बातें खप भी जाती हैं। किन्तु कहानीमें ? यानी मैं यह चाहता हूँ कि साहित्यमें मानवकी पूर्ण मूर्ति (वह फिर जैसी भी हो) स्थापित की जाये। तभी हम अपनी झलक उसमें देख सकेंगे। अगर 'नयी कहानी (या कोई भी कहानी) ऐसा नहीं करती तो मेरे खयालसे यह उचित नहीं है। मैं तो सिर्फ एक खतरेकी ओर आपका ध्यान खींच रहा हूँ।

अब आप जान गये होंगे कि मैं किस प्रकार यह चाहता हूँ कि खूबसूरत लड़कीको भगाकर ले गये उस पीले चौड़े चेहरे और ऊँचे कदवालेकी पूरी जिन्दगी (साहित्यमें) तसवीर बनकर खड़ी हो जाये ऐसी तसवीर जिसमें अपनी भी झलक हमें मिले…

यदि मैं सच कहूँ (आज मैं सच कहनेपर आमादा हूँ) कि मुझे बराबर यह लगा है लगता रहा है कि उसने जो कुछ किया है वैसा उस हालतमें कोई भी कर सकता था। न होता तो मैं भी करता। हाँ यह ठीक है कि उच्च कुल-जाति-मानकी लड़कीसे उसने विवाह नहीं किया और इस प्रकार उसने असफलताके रास्ते तैयार कर लिये। लेकिन वह ऐसी औरतसे तो बरी रहा था जो अपने पिताकी सामन्ती रौब अपने खाविन्दपर गालिब करती है और पति वैसा होने भी देता है क्योंकि सुभीता और सुखहालीका रास्ता भी वही है।

एक बात बताऊँ ? कुछ लोग ऐसे होते ही हैं जिन्हें वामपंथी शामिल

करनेके मुल्योंसे डर लगता है। और कुछ ऐसे होते हैं जिन्हें मुल्योंको सीखना नहीं पड़ता। वे आप ही आप आ जाते हैं।

हर जमाना अपने-अपने ढंगके कामयाब लोग तैयार करता है। बहादुरीके जमानेमें तलवारबाजीके जमानेमें हम सरीखे आदमियोंकी जरूरत थी। आज हम लोग अपनी इज्जत लेकर अँधेरेमें डूबे हुए हैं आजके जमानेमें एक कोण नाकामयाब होनेके लिए ही जिन्दा है।

तो ऐसे न जो नाकामयाब लोग हैं उनके मजहब अलग-अलग हैं। कोई व्यक्ति कलाकारके धमको निबाहता है तो कोई राजनीतिके अथवा धारणा मजहूल है। असलमें ये सब कम्प्रेटेड रुचिविम्मुखस्त हैं—वैरूप्य ग्रस्त व्यक्ति हैं।

हाँ यह सही है कि किसीका वैरूप्य दिखायी देता है और किसीका नहीं। वैसे ऊपरी तौरपर सन्तुलित सब हैं। यह अच्छा है या बुरा मैं नहीं जानता।

क्या मैं नाम लूँ? मान लीजिए श्री 'क' जो उपन्यासकार कवि कहानीकार तथा समीक्षक और सम्पादक रहे आये हैं, बाल-बच्चेदार आदमी हुए तो वे वैरूप्यकी तीव्र जीवन-यात्रा करके उत्तमोत्तम रत्न हिन्दी साहित्यको न देते। (आप समझ गये होंगे मेरा इशारा किस तरफ है) व हिन्दी काव्यमें आधुनिकतावादके एक शिखर भी न होते। गम्भवतः व्यक्ति-वृत्तता (यह पण्डित रामचन्द्र शुक्लकी भाषा है) के वे एक सुन्दर उदाहरण भी न होते।

और लाइए। उत्तर-प्रदेशके एक तीव्र स्थानमें रहनेवाले एक कुमारे मित्र हैं। विभूति हैं। प्रज्ञवान हैं। नयी कविताके शिरोमणि हैं। विशुद्धतम छन्दाम्बरनामें रचना करते हैं। सुन्दर किन्तु तीक्ष्ण चित्र प्रस्तुत करते हैं। मान लीजिए कि वे बाल-बच्चेदार आदमी होते तो उनकी प्रतिमा व्यापक तीक्ष्ण भावना या करुणा अथवा एमे ही किसी भावमें बदल जाती।

एक साहित्यिककी डायरी

एक हमारे मित्र बहुत दिनोंसे राजधानीमें रहते हैं। सदाशयी हैं। कटुता क्रोध और वैकल्य उनकी विशेषता है। फिर भी उन्हें अच्छी तरह जाननेवालोंको मालूम है कि वे कितने प्यारे हैं।

मान लीजिए कि वे भी बाल-बच्चेदार आदमी होते तो मैं आपसे कहूँ कि उनकी कटुता क्रोध और वैकल्यका रंग निराला होता। मैं मान लेता हूँ कि उनका यह स्वभाव है। लेकिन उस स्वभावका रंग जरूर बदला हुआ होता।

पन्तजीसे लेकर आजतक नवीन कवियोंकी चरितावली देख लीजिए तो पायेंगे कि अधिकतर लेखकोंमें नितान्त वैयक्तिक स्तरपर अरम्य भावना है (भले ही उनमें-से कुछ अमरीका हो आये हों) जिसका कारण सम्भवतः यह है कि वे विवाहहीन हैं — या जिनकी औरत मर गयी है — या बाल-बच्चेदार वे नहीं हैं।

भारतमें (हाँ इस शब्दका प्रयोग मुझे जरूर करना चाहिए, क्योंकि भारतमें मैं कोई बात नहीं कह सकता) इन साहित्यिकोंके जीवनमें जिसे पारिवारिक सुख कहा जाता है वह नहीं है। कारणोंकी तरफ मत जाइये। यह अपनी-अपनी धारणा और कल्पनाका विषय है। इस प्रकार वे मित्र अपने लिए रह रहे हैं (क्या यह अतिशयोक्ति है? ऐसा अक्सर तो हो ही सकता है) दूसरे शब्दोंमें इसका आधुनिक मानव पारिवारिक व्यक्ति नहीं होता। (मैंने रिवाल्यूशनरी बात कह दी है। लेकिन उससे मुझे डर लगता है क्योंकि अब सब मिलकर मुझे पीटेंगे) और जो पारिवारिक व्यक्ति हैं उनमें नहीं न नहीं आधुनिकतामें कमी है— या ऐसा ही कुछ।

लेकिन ऐसा क्यों होता है? मेरे ख्यालसे इसका कारण यह है कि विवाहोपरान्त अपनी स्त्रीको अस्पतालमें भरती कराना पड़ता है, मँहगाई पर भावना-विचारणा करना पड़ता है। स्कूलमें मास्टर साहबको दरख्वास्त देनी पड़ती है कि मेरी लड़की किन्हीं कारणोंसे स्कूल नहीं आ सकती। लड़कों

लड़कियोंके विवाहके सम्बन्धमें पहले ही सोचकर रखना पड़ता है। कमाई बढ़ानेकी कोशिश करनी पड़ती है। दूसरोंसे सहायता लेनेके लिए विवश होना पड़ता है। इसलिए उनमें दया ममता करुणा वात्सल्य कर्तव्य-बोध विवशताके साथ होते हैं और इसके अलावा उन्हें हर क़दमपर समाजके दर्शन होते हैं — वास्तविक समाजके उस समाजके जो संगठित है विभिन्न संस्थाओंमें व्यक्त और नाप-तौल है। वह उन्हें डॉक्टरके रूपमें दूकानदार और पोस्टमास्टरके रूपमें मकान-मालिकके रूपमें निरन्तर भेंट देता रहता है। वह उनके लिए प्रत्यक्ष अनुभव और वास्तविक संवेदनात्मक प्रतिक्रियाका विषय है। उनके लिए वह केवल परिवेश या परिधि नहीं है वरन् एक ऐसा जीता-जागता वस्तु-सत्य है जिसका अंगरूप वे स्वयं हैं। अगर वे सब मिलकर उसकी परिस्थिति हैं तो वह उनसे मिलकर किसी तीसरेकी परिस्थिति है। और ये सब परस्पर क्रिया प्रतिक्रिया करते हैं यह उसे अपने व्यावहारिक जीवनमें मालूम हो जाता है। समाज उसके लिए भीड़-भड़क्केका नाम नहीं। वह अमूर्त कल्पना भी नहीं क्योंकि उसके लिए पेन्शन और प्राविडेण्ट फण्डकी व्यवस्था भी वही करता है। इसलिए समाज उसके लिए जीवन्त और स्पन्दनशील वस्तु है। उस समाजके बिना न उसका गुज़ारा हो सकता है न उसके बच्चोंकी शिक्षा न उनका विवाह, न उनकी नौकरी। अपने और अपने परिवारकी अस्तित्व-रक्षाके युद्धमें भी उसे समाज ही के अनेक लोगों और माध्यमों-द्वारा सहायता मिलती है। समाज ही के इस प्रत्यक्ष बोधके कारण उसे जनताकी ठोस बहुलता और भीड़ बहुलताका सन्देह नहीं होता। अपने बाल-बच्चोंको लेकर वह लाखों और करोड़ोंमें खोया हुआ रहता है। और उसका उसे बुरा नहीं लगता। उसे अच्छा लगता है क्योंकि वे लाख-करोड़ उस जैसे ही हैं। उन्हींसे वह सुख और दुःख अच्छाई और बुराई न्याय और अन्याय आदर्श और यथार्थ गुण और दुर्गुणका बोध करता है, संघर्ष और मैत्रीका भाव धारण करता है। बाल-बच्चेदार होनेपर ही

मनुष्यकी असंग अहंकारिता काफ़ी हद तक घिस जाती है।

किन्तु हमारे अधिकांश कवि 'अद्वितीय' हैं। वे स्वयं इस अद्वितीयता की रक्षा करते हैं। यों कहिए कि इस अद्वितीयताके कारण ही वे कवि हैं। मैं यह नहीं कहता कि अद्वितीयता उनका दोष है। मैं यह कहना चाहता हूँ कि अद्वितीयताकी जो परिभाषा इन कवियोंने अपने लिए छाँटकर रखी है वह ग़लत है। वे अपने असंग संवेदन-शील प्रतिभा व्यक्तित्वको अद्वितीयता कहते हैं। और मैं यह कहता हूँ कि समयपर विवाह न होनेसे उनके सुकोमल तन्तुओंका विस्तार नहीं हुआ है और न सुकोमल तन्तु समाजकी विभिन्न संस्थाओंसे समाजके विविध रूपोंसे घनिष्ठ रूपसे जुड़ नहीं पाये हैं। इसलिए समाजका वास्तविक प्रत्यक्ष संवेदनात्मक बोध समाजके भीतर व्यक्ति-मानवता — जो उसकी विभिन्न संस्थाओंके भीतरसे ही किसी न किसी मात्रामें व्यक्त होती है — का हार्दिक परिचय उन्हें नहीं है। इसलिए वे मुक्त-हृदय भी नहीं हैं। जीवनमें अत्यन्त सारभूत सुकोमल अनुभवोंसे वे बच गये हैं। उनके लिए समाज केवल आत्मप्रक्षेप है। रेवड़ का रेवड़ है, भीड़भाड़ है, लोगोंकी धक्कमधक्क करती हुई भीड़ है।

और अगर समाजका उन्हें अनुभव भी है तो वह कैसा है। गोष्ठी, सभा, महफ़िल, प्रकाशक, पैसा देनेवाला मालिक, राजनैतिक पार्टी, सरकार और उसके कर्मचारी — ऐसे ही रूपों-द्वारा समाज व्यक्त होता है उनके सामने। इन रूपोंसे हार्दिक आत्म-सम्बन्ध स्थापित हों तो कैसे हों। अधिकसे अधिक इस समाजमें उनके कुछ परिचित लोग हैं जो भले आदमी भी हैं। व्यक्तियोंके गुण और दुर्गुणोंका उन्हें बोध होता है। इसलिए वे समाजमें व्यक्तियोंका ही देखते हैं।

ऐसे लोग जो कवि हैं कहानी भी लिखते हैं और कहानीमें परिवार का भी चित्रण होता है। परिवारका चित्रण भी ऐसा अमूर्त्त विस्तृत और विद्रूप होता है कि लगता है कि उन पारिवारिक पात्रोंमें केवल घनी-भूत असंग भावात्मकता है। उससे अधिक या उसके परे या उसके अतिरिक्त

होता है ? तो महोदय आप मान जायेंगे कि वास्तविक अस्तित्व संघर्षमें उत्पन्न विशेष सम्भ्रम-युक्त विशेष विरोधोन्मुख तथा विशेष भाव-वृष्टि-सम्पन्न जो मनोभाव हैं उन्हें कलात्मक अभिव्यक्ति प्राप्त करनेका कोई अधिकार नहीं है और यदि मान भी लिया जाये कि अधिकार है तो हम यह कह देंगे कि वह अभिव्यक्ति जो आपने ऐसे भाव-समुदायोंको प्रदान की वह कलात्मक नहीं है और यदि कहीं वह सचमुच कलात्मक है यह सिद्ध हो ही गया तो हम यह कह देंगे कि वह कृति आधुनिक भाव-बोधके अन्तर्गत नहीं आती। किस्सा खतम। समझ गये! एक विशेष प्रकारके भाव-समुदायोंको ही मान्यता—प्राप्त है, अन्योंको नहीं।

यों ही इतना सब सोचकर मैंने अपनी खिड़की तरफ देखा तो पाता गया हूँ कि कुर्सी खाली है! सूनी एकदम सूनी! मुझपर घड़ों पानी पड़ गया। न मालूम कब वह उठकर चला गया था।

■